वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

SW- 03

Concept ,meaning and characteristics of Indian society

(भारतीय समाज की अवधारणा, अर्थ एवं विशेषताएं)

अनुक्रमणिका

इकाई संख्या एवं इकाई का नाम	पृष्ठ संख्या
इकाई **1** समाज	1-8
इकाई 2 भारतीय समाज	9- 17
इकाई 3 समाजीकरण	18-26
इकाई 4 समाजिक नियंत्रण	27-32
इकाई 5 सामाजिक प्रस्थिति	33-42
इकाई 6 सामाजिक समूह	43-49
इकाई 7 सामाजिक समूह के प्रकार	46-64
इकाई 8 सामाजिक परिवर्तन :अर्थ एवं कारक	65-73
इकाई 9 संस्कृति	74-81
इकाई 10 सामाजिक मूल्य एवं प्रतिमान	82-89
इकाई 11 भारतीय समाजिक संस्थाएँ	90-98
इकाई 12 विवाह	99-92
इकाई 13 परिवार	93-119
इकाई 14 धर्म एवं संस्कृति	120-126

इकाई -1

समाज

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 समाज का अर्थ

1.3 समाज की परिभाषा

1.4 समाज के आवश्यक तत्व

1.5 समाज निर्माण की आवश्यक दशाएं

1.6 मानव समाज एवं पशु समाज

1.7 सारांश

1.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

1.9 सन्दर्भ ग्रन्थ

1.1 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के पश्चात्

1. आप समाज के अर्थ एवं परिभाषाओं को समझ सकेंगे।

2. समाज के आवश्यक तत्वों का अध्ययन कर सकेंगे।

3. इसके पश्चात् समाज निर्माण की आवश्यक दशाओं के बार ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

4. मानव समाज तथा पशु समाज समाज के विषय में अध्ययन कर सकेंगे।

1.2 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में समाज के विषय में विचार किया गया है। समाज स्वयं एक संघ है, एक संगठन है, औपचारिक संबंधों का योग है। जिसमें परस्पर सम्बन्ध बनाये रखने वाले लोग एक साथ संगठित होते हैं। समाज के निर्माण में सामाजिक सम्बंधों तथा व्यक्तियों का समान महत्व है। समाज रीतियों, कार्यविधियों, अधिकार व पारस्परिक सहायता, अनेक समूहों तथा उनके उप विभागों मानव व्यवहार के नियन्त्रणों और स्वतंत्रताओं की व्यवस्था है। समाज उन व्यक्तियों का समूह है जो अंतः क्रिया द्वारा सम्बंधित हैं।

1.3 समाज का अर्थ

मानव एक सामाजिक प्राणी है| समाज में रहना उसकी प्रकृति है जहाँ वह अन्य व्यक्तियों के साथ सम्बन्धों को स्थापित करता है, और उनके साथ अन्तःक्रिया करता रहता है। वास्तव में व्यक्ति में समाज के अन्य सदस्यों से सम्बन्ध स्थापित करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है जिसे वह सामाजिक अन्तःक्रिया के फलस्वरूप विकसित करता है।

मानव समाज में दो शब्दों से मिलकर बना है। पहला मानव तथा दूसरा समाज। इसका आशय सामाजिकता से है। सामाजिकता की भावना मानव समाज के लिए आवश्यक होती है और सामाजिकता के विकास के लिए सम्बन्धों का होना आवश्यक है। ये सामाजिक सम्बन्ध समाज का निर्माण करने के साथ-साथ मनुष्य के व्यवहारों, कार्य-कलापों को सन्तुलित करते हैं। इसी वजह से समाज को सम्बन्धों का जाल भी कहते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि मानव जीवन में सम्बन्धों, प्रतिमानों, मूल्यों, आदर्शों, संहिताओं, प्रथाओं, मान्यताओं इत्यादि के विस्तृत रूप में व्याप्त जाल को ही ''समाज'' की संज्ञा दी गयी है।

समाजशास्त्र मानव समाज का अध्ययन है। इस दृष्टिकोण से समाजशास्त्र की आधारभूत संकल्पनाओं को समझने के लिए इसकी प्राथमिक संकल्पनाओं को समझना अति आवश्यक है। इन संकल्पनाओं में 'समाज' society सबसे प्रमुख है। आमबोल-चाल में समाज शब्द का उपयोग बहुत मनमाने ढंग से किया जाता है। लोग मनुष्यों के किसी भी संगठन, विशेष धर्म, भाषा या संस्कृति से संबंधित समूह को समाज कह देते हैं। उदाहरण के लिए हम प्रायः हिन्दू समाज, जैन समाज, मुस्लिम समाज, शिक्षक समाज आदि का प्रयोग करते हैं। यह सभी शब्द अवैज्ञानिक हैं। समाजशास्त्रीय अर्थ में 'समाज' शब्द लोगों के किसी समूह से संबंधित नही है बल्कि लोगों के बीच उत्पन्न होने वाली अन्तःक्रिया के नियमों के सम्मिश्रित स्वरुप से संबंधित है। इस प्रकार समाज लोगों का कोई संगठन नही है और न ही कोई वस्तु है जिसका भौतिक स्वरूप हो। ''समाज पूर्णतया अमूर्त है।'' यह एक वस्तु की अपेक्षाकृत एक प्रक्रिया है।

समाज सर्वव्यापी है, अर्थात् जहाँ जीवन है वहाँ संबंध हैं और जहाँ संबंध हैं वहाँ समाज पाया जाता है।

समाज का निर्माण व्यक्तियों के मध्य पाये जाने वाले सामाजिक संबंधों से होता है। जैसा कि मैकाइवर एवं पेज ने समाज को सामाजिक संबंधों का जाल माना है।

समाज वो है जिसके अन्तर्गत -

1. सामाजिक सम्बन्ध स्थापित होते हैं।
2. विभिन्न संगठनों का निर्माण होता है।
3. चेतनता और अन्तःक्रिया होती है।
4. परम्पराओं का निर्वहन किया जाता है।
5. यह व्यक्ति के जीवन पर प्रभाव डालता है।
6. यह भौतिक और सामाजिक उन्नति करता है।

1.4 समाज की परिभाषा

समाज को अनेक समाजशास्त्रियों ने किसी न किसी रूप में अलग-अलग तरह से पारिभाषित किया है। इनमें से कुछ प्रमुख निम्न है:

मैकाइवर का कथन है कि ''समाज रीतियों, कार्यविधियों, अधिकार व पारस्परिक सहायता, अनेक समूहों तथा उनके उप-विभागों, मानव व्यवहार के नियन्त्रणों और स्वतन्त्रताओं की व्यवस्था है। इस परिभाषा के द्वारा मैकाइवर ने यह बताया कि समाज, सामाजिक सम्बन्धों और इन सम्बन्धों को प्रभावित करने वाले तत्वों की एक जटिल तथा परिवर्तनशील व्यवस्था है।

गिडिंग्स के शब्दों में ''समाज स्वयं एक संघ है, एक संगठन है, औपचारिक सम्बन्धों का योग है, जिसमें परस्पर सम्बन्ध रखने वाले लोग एक साथ संगठित होते हैं।'' इस प्रकार आपके अनुसार समाज के निर्माण में सामाजिक सम्बन्धों तथा व्यक्ति का समान महत्व है। इस परिभाषा का एक बड़ा दोष यह है कि इसमें औपचारिक सम्बन्धों के योग को ही समाज मान लिया गया है जबकि वास्तविकता यह है कि समाज में औपचारिक और अनौपचारिक दोनों तरह के सम्बन्धों का समान महत्व होता है।

राइट ; ने समाज की सरल परिभाषा देते हुए कहा है, ''समाज केवल व्यक्तियों का समूह नहीं है, यह समाज में रहने वाले व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों की एक व्यवस्था है।'' यह परिभाषा मैकाइवर की परिभाषा से ही मिलती-जुलती है।

पारसन्स ; ने समाज की वैज्ञानिक आधार पर परिभाषा देते लिखा है कि ''समाज उन मानवीय सम्बन्धों की पूर्ण जटिलता के रूप में पारिभाषित किया जा सकता है, जो साधन और साध्य के सम्बन्ध द्वारा क्रिया करने से उत्पन्न होते हैं, चाहे वह यथार्थ हो या केवल प्रतीकात्मक।''

गिन्सबर्ग ; ने समाज को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है, ''समाज ऐसे व्यक्तियों का संग्रह है जो अनेक सम्बन्धों और व्यवहार की विधियों द्वारा संगठित हैं तथा उन व्यक्तियों से भिन्न है जो इस प्रकार के सम्बन्धों द्वारा बँधे हुए नहीं हैं।'' इस परिभाषा से स्पष्ट होता है कि एक समाज दूसरे से इसलिए भिन्न होता है क्योंकि एक समाज में पाये जाने वाले सम्बन्धों की प्रकृति दूसरे समाज से भिन्न होती है।

पार्क और बर्गेस के अनुसार, ''समाज अनेक आदतों, भावनाओं, जनरीतियों, लोकाचारों, प्रविधियों और संस्कृति की एक सामाजिक विरासत है जो मानव के सामूहिक व्यवहारों का निर्धारण करती है।''

र्यूटर ने समाज को सबसे सरल रूप में परिभाषित करते हुए कहा है, समाज एक अमूर्त धारणा है जो एक समूह के सदस्यों के बीच पाये जाने वाले पारस्परिक सम्बन्धों की सम्पूर्णता का बोध कराती है।

जार्ज सिमैल के अनुसार, ''समाज उन व्यक्तियों का समूह है जो अन्तःक्रिया द्वारा संबंधित हैं।''

सी.एच.कूले के अनुसार, ''समाज रीतियों या प्रक्रियाओं की जटिल रचना है, जिनमें से प्रत्येक जीवित है और प्रत्येक अन्य के साथ अन्तःक्रिया के कारण बढ़ती रहती है तथा उसके अस्तित्व में इस प्रकार की एकरूपता होती है कि जो कुछ एक भाग में होता है, उसका प्रभाव शेष भागों पर भी पड़ता है।''

उपरोक्त सभी परिभाषाएं निम्न तथ्यों को स्पष्ट करती हैं-

1. समाज सामाजिक सम्बन्धों की एक व्यवस्था है।

2. ये सामाजिक सम्बन्ध सदैव परिवर्तनशील होते हैं। अतः समाज को भी एक जटिल और परिवर्तनशील व्यवस्था कहा जाता है।

3. समाज का निर्माण करने वाला कोई भी सम्बन्ध मनमाना व अनियमित नहीं होता, वह सदैव सांस्कृतिक नियमों की सीमा में होता है।

4. समाज के निर्माण में व्यक्ति का स्थान अत्यन्त महत्व रखता है परन्तु व्यक्तियों के संग्रह को समाज के रूप में पारिभाषित नहीं किया जा सकता है।

1.5 समाज के आवश्यक तत्व

जब व्यक्ति व्यवस्थित रूप से सम्बन्धों की स्थापना करते हैं तो वे समाज का निर्माण करते हैं। किंग्सले डेविस ने अपनी पुस्तक Human Society (ह्यूमन सोसाइटी) में सभी समाजों के लिए निम्न आवश्यक दशाओं को बतलाया है-

1.5.1 जनसंख्या की निरन्तरता को बनाए रखना

सभी जीवधारी अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए साथ-साथ रहते हैं। जीवों के समूह में रहने का अर्थ अपनी जनसंख्या को बनाये रखने से है। उसके समाज विशेष के अस्तित्व हेतु जनसंख्या की निरन्तरता आवश्यक है। समाज अपनी निरन्तरता को बनाए रखने के लिए निम्नलिखित तीन प्रकार्यो को करता है:

(क) भरण पोषण की व्यवस्था - जनसंख्या के जीवन यापन के लिए भोजन अति आवश्यक है। किसी भी समाज के सदस्य बिना भोजन के जीवित नहीं रह सकते हैं।

(ख) आघात से सुरक्षा - अनेक प्रकार की प्राकृतिक विपदाओं एवं अन्य आघातों से रक्षा के लिए साधनों और व्यवस्थाओं का निर्माण समाज ही करता है। समस्त जीव आपसी सहयोग और सूझबूझ से प्राकृतिक विपदाओं और अन्य आघातों से अपनी सुरक्षा करते हैं।

(ग) प्रजनन कार्य - समाज की निरन्तरता के लिए प्रजनन कार्य अति आवश्यक है।

1.5.2 जनसंख्या में श्रम विभाजन

विशेषीकरण या श्रम विभाजन सभी प्रकार के समाजों में पाया जाता है। श्रम विभाजन के कारण समाज के सदस्यों का पद निर्धारण होता है। दूसरे शब्दों में विभिन्न पदांे के अनुसार ही सदस्यों के कार्य का निर्धारण होता है। आधुनिक युग की बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु कार्य निर्धारण समाज का आवश्यक गुण है।

1.5.3 सामूहिक एकता

किसी समूह की एकता उसके सदस्यों के सहयोग पर आधारित है। जिस समाज के सदस्यों का आपसी सम्बन्ध जितना ही सहयोग पर आधारित होगा, वह समाज उतना ही दृढ़ हेागा। इसी के कारण सदस्यों को सहयोगात्मक अन्तःक्रिया हेतु प्रेरित किया जाता है। इस सहयोगात्मक अन्तःक्रिया के कारण एक समूह का दूसरे समूह से भेदभाव भी पाया जाता है।

1.5.4 सामाजिक व्यवस्था में स्थायित्व होना

प्रत्येक समाज की अपनी अलग-अलग व्यवस्था होती है। किसी सामाजिक संगठन को देखकर उस समाज के विषय में अनुमान लगाया जा सकता है। प्रत्येक समाज की सामाजिक व्यवस्था एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को निरन्तर गतिमान रहती है।

जिसबर्ट ने किसी समाज के तीन प्रमुख तत्वों का उल्लेख किया है।

1. सादृश्यता
2. सामान्यता
3. सहयोग

1.6 समाज निर्माण की आवश्यक दशाएं

समाज सामाजिक सम्बन्धों की एक निश्चित व्यवस्था है, सामाजिक और मानसिक सम्बन्धों की स्थापना से समाज का निर्माण होता है। परन्तु समाज के निर्माण के लिए सामाजिक सम्बन्धों के साथ-साथ एक निश्चित व्यवस्था भी आवश्यक है।

के. डेविस के अनुसार, ''यह ध्यान देने योग्य बात है कि सामाजिक सम्बन्ध ही समाज नहीं है, बल्कि जब सामाजिक सम्बन्धों की एक व्यवस्था होती है तब उसे समाज कहा जाता है।''

के. डेविस ने समाज निर्माण हेतु चार प्रकार की परिस्थितियों या दशाओं का वर्णन किया हैः

1. समाज की रक्षा
2. समाज में कार्य-विभाजन
3. समूह की एकता
4. सामाजिक व्यवस्था में स्थिरता

1.6.1 समाज की रक्षा

समाज की रक्षा से तात्पर्य उन परिस्थितियों से है जो कि समाज के सदस्यों को जीवित रखने में सहयोग देते है। इसके लिए पालन-पोषण की निश्चित व्यवस्था का होना आवश्यक होता है। साथ ही साथ ऐसी परिस्थितियाँ भी होनी चाहिए जिससे समाज को प्राकृतिक आपदाओं एवं परेशानियों से संरक्षण मिल सके। इसके अतिरिक्त ऐसी परिस्थितियाँ भी होनी चाहिए जिससे विषमलिंगीय सम्बन्ध स्थापित हों और नवीन जीव की उत्पत्ति हो सके तथा नयी-नयी पीढ़ियाँ विकसित होती रहे ।

1.6.2 समाज में कार्य विभाजन

समाज में कार्य विभाजन के अन्तर्गत ऐसी दशायें होनी चाहिए जिसमें समाज के सभी सदस्य श्रम विभाजन के द्वारा विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति करते रहे। यह विशेषीकरण की क्रिया के द्वारा सम्भव होता है। यही विशेषीकरण सामाजिक व्यवस्था का आधार है। विभिन्न समाजों में विशेषीकरण की मात्रा अलग-अलग होती है। इसीलिए विभिन्न समाज एक-दूसरे की अपेक्षा कम या अधिक व्यवस्थित होते हैं।

1.6.3 समूह की एकता

समाज निर्माण की दृष्टि से समूह की एकता परमावश्यक है इसके लिए समूह के सदस्यों के मध्य सम्बन्धों की स्थापना हेतु प्रेरक तत्वों का होना आवश्यक है। सदस्यों के बीच में सहयोग, सहानुभूति, अपनत्व की भावना होनी चाहिए। समूह के सदस्यों के मध्य ''हम की भावना'' होनी चाहिए।

1.6.4 सामाजिक व्यवस्था में स्थिरता

समाज को संगठित रखने के लिए ऐसी दशायें होनी चाहिए जिससे समाज में स्थिरता एवं निरन्तरता बनी रहे। इसके लिए समाज को व्यवस्थाओं और नियमों की आवश्यकता होती है एवं उसके संचालन के लिए कुशल नेतृत्व भी होना चाहिए।

1.7 मानव समाज एवं पशु समाज

मनुष्य एवं पशु दोनों ही समाज जन्मजात प्रवृत्तियों के बन्धनों में बंधे होते हैं। परन्तु मनुष्य अपना विकास सामाजिक बन्धनों एवं रीतियों के द्वारा करता है। मनुष्य अपने विकास के लिए मेधा और संसाधनों का सदुपयोग करता है जिसके द्वारा वह हर स्थिति में खुद को समायोजित कर लेता है। पशुओं में निम्न स्तर के लक्षण पाये जाते हैं उनमें चेतनता का अभाव होता है या कम होता है। वह अपनी बुद्धि क्षमता का पूर्ण उपयोग नहीं कर पाते हैं। पशु अपनी बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। पशुओं में आदर्शों, मनोवृत्तियों, व्यवहारों का अभाव होता है। पशुओं में सीखने व अन्तःक्रिया करने की क्षमता कम होती है।

मानव एवं पशु समाज में अन्तर

शारीरिक रूप से मनुष्य और पशुओं में भिन्नता होने के बावजूद बहुत सी समानतायें होती हैं। मानव एवं पशु दोनों ही आन्तरिक एवं बाह्य आवश्यकताओं से नियन्त्रित होते हैं। परन्तु दोनों के व्यवहारों में भिन्नता पायी जाती है। सामान्यतः मानव एवं पशु समाज में निम्नलिखित अन्तर पाये जाते हैः

1.7.1 सामाजिक व्यवस्था

मानव समाज में समाज का निर्माण करने वाले कारक एक सांस्कृतिक व्यवस्था के अन्तर्गत कार्यात्मक रूप से सम्बन्धित रहते हैं तथा एक संतुलित शक्ति का निर्माण करते हैं। जिसमें विभिन्न प्रकार की सामाजिक संस्थाएं अपने उद्देश्यों के अनुसार कार्य करके व्यक्तियों की अन्तःक्रियाओं को नियमित करती हैं।

इसके विपरीत पशु समाज में सामाजिक व्यवस्था का सर्वथा अभाव रहता है।

1.7.2 यौन सम्बन्धी व्यवहार

मानव समाज में यौन-सम्बन्ध के सन्दर्भ में नियमबद्धता होती है। ये सम्बन्ध ऐच्छिक और मनमाने न होकर संस्कारों, परम्पराओं और नियमों से बंधे होते हैं। परन्तु पशु समाज में यौन सम्बन्धों के लिए कोई नैतिक नियम नहीं होते हैं।

1.7.3 विकसित स्नायु मण्डल

जीव की समस्त क्रियायें स्नायु संस्थान के द्वारा ही नियन्त्रित होती है। मानव द्वारा सोचने, समझने, देखने, सुनने इत्यादि कार्य किये जाते हैं जो कि स्नायुमण्डल के द्वारा ही संचालित होते हैं। मनुष्य में विकसित स्नायुमण्डल पाया जाता है जबकि पशुओं में यह कम विकसित अवस्था में होता है।

1.7.4 आदर्श व्यवहार

मनुष्य में सीखने की क्षमता होती है। व्यक्ति को जिन कार्यों से प्रशंसा मिलती है उसको अपने व्यवहार का अंग बना लेता है। प्रत्येक समाज में दो चीजें महत्वपूर्ण होती हैं। पहला तथ्य, दूसरा तथ्यों के प्रति सदस्यों के विचार और व्यवहार। मानव समाज में व्यवहार और विचार नैतिकता और अनैतिकता की भावनाओं से बंधे होते हैं। यहाँ पर आदर्शों को व्यवहार में परिवर्तित करके आदर्श व्यवहार अपनाया जाता है तथा अनैतिक व्यवहार को प्रतिबन्धित किया जाता है। पशु समाज में आदर्श व्यवहार कल्पना से परे होता है। यहाँ पर नैतिकता और अनैकिता का कोई मापदण्ड नहीं होता है।

1.7.5 शारीरिक भिन्नता

मानव समाज में व्यक्ति की इन्द्रियाँ विकसित होती हैं। बोलने की क्षमता विकसित होती है, व्यक्तियों में सीधे खड़े होकर हाथों से कार्य करने की क्षमता होती है। मनुष्य दो पैरों पर चलता है तथा हाथों का भी प्रयोग समुचित तरह से करता है।

इसके विपरीत पशु समाज में इन्द्रियाँ अल्प विकसित या कुछ इन्द्रियों का ही विकास होता है। बोलने की क्षमता भी कम विकसित होती है। सांकेतिक भाषा का प्रयोग ज्यादा होता है। हाथ-पैरों के द्वारा शरीर का संतुलन स्थापित करते हैं।

1.7.6 कार्य कुशलता

मनुष्य को अपनी संस्कृति और आवश्यकताओं से सम्बन्धित सभी कार्यों को सीखना पड़ता है। प्रारम्भ में सीखने में समय लगता है परन्तु धीरे-धीरे उसकी कार्य कुशलता अनुभव के साथ बढ़ती जाती है।

पशुओं में कार्य कुशलता का विकास कम होता है और कुछ सीमा तक ही वे निपुण हो पाते हैं।

1.7.7 संस्कृति

मानव समाज में संस्कृति का समावेश होता है। धर्म, संस्कार, रीति-रिवाज, प्रथायें, प्रतिमान, नैतिकता आदि मनुष्य की संस्कृति का हिस्सा होती हैं। वह इनके प्रयोग से व्यक्तिगत एवं सामाजिक विकास करता है। मनुष्यों के द्वारा संस्कृति का एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तान्तरण किया जाता है। पशु समाज में संस्कृति का अभाव होता है यहाँ पर प्रत्येक जीवधारी अपनी परिस्थितियों के अनुसार व्यवहार करता है।

1.7.8 सामाजिक अन्तःक्रिया

मानव समाज सम्बन्धों पर आधारित होता है जो कि सामाजिक, आर्थिक, लैंगिक, राजनैतिक, धार्मिक, शैक्षिक, पारिवारिक इत्यादि आधार से सम्बन्धित होते हैं। जिसके फलस्वरूप व्यक्ति आपस में निरन्तर अन्तःक्रिया करते रहते हैं। परन्तु पशुओं में निम्न स्तर की अन्तःक्रिया पायी जाती है इनमें केवल सामूहिक सम्बन्ध ही पाये जाते हैं।

1.7.9 भविष्य का निर्माण

मानव समाज में व्यक्ति वर्तमान के साथ-साथ भविष्य को सुव्यवस्थित करने के लिए चिन्तित रहता है। जिसके परिणामस्वरूप वर्तमान भी दुखदायी बना लेता है और सुन्दर भविष्य के लिए निरन्तर सुरक्षात्मक प्रयास करता रहता है।

यद्यपि यह देखा गया है कि पशुओं में भी भविष्य की चिन्ता रहती है। परन्तु सामान्यतः वे चिन्ता मुक्त रहते हैं और भविष्य की चिन्ता नहीं करते हैं।

1.7.10 सम्बन्धों की अधिकता

मानव समाज का निर्माण सामाजिक सम्बन्धों की व्यवस्था से हुआ है। मानव समाज में सम्बन्धों में घनिष्ठता और अपनत्व पाया जाता है समाज में प्राथमिक एवं द्वितीयक दोनों प्रकार के सम्बन्ध व्याप्त होते हैं। जबकि पशु समाज में खासकर स्तनधारियों में विशेष प्रकार के सम्बन्ध एवं पारस्परिक जागरूकता पायी जाती है।

1.7.11 परिवर्तन

मानव समाज में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है अगर हम पाषाण युग से वर्तमान के औद्योगिक युग तक की बात करंे तो हम देखते हैं कि मानव सभ्यता में निरन्तर परिवर्तन देखने को मिलते हैं।

पशु समाज में परिवर्तनों का अभाव होता हैं।

1.8 सारांश

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के उपरांत निष्कर्षतः समाज के अर्थ एवं परिभाषाओं का अध्ययन किया। तत्पश्चात् सामज के आवश्यक तत्व के विषय में जानकारी प्राप्त की। समाज निर्माण के लिए आवश्यक दशाओं के विषय में अध्ययन किया। सामाजिक व्यवस्था, सामूहिक एकता के विषय में ज्ञान प्राप्त किया। मानव समाज एवं पशु समाज के विषय में ज्ञान प्राप्त किया

1.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. समाज की अर्थ एवं परिभाषाओं का वर्णन कीजिए।
2. समाज के आवश्यक तत्वों का विस्तृत वर्णन कीजिए।
3. समाज निर्माण की आवश्यक दशाओं की चर्चा कीजिए।
4. मानव समाज एवं पशु समाज में अंतर स्पष्ट कीजिए।

1.10 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. लवानिया, एम.एम. एवं राठौड़, ए.एस. (1999) भारतीय समाज, रिसर्च पब्लिकेशनः जयपुर
2. लवानिया, एम.एम. एवं पडियार, जी. (2010) भारत में सामाजिक समस्यायें, रिसर्च पब्लिकेशनः जयपुर
3. गुप्ता, एम.एल. एवं शर्मा, डी.डी. (2004) समकालीन भारतीय सामाजिक विचारक एवं सामाजिक आन्दोलन, साहित्य भवन पब्लिकेशनः आगरा

भारतीय समाज

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 भारतीय समाज की विषेषताएं

2.3 भारतीय समाज में विभिन्नताओ में एकता

2.4 सारांश

2.5 अभ्यासार्थ प्रश्न

2.6 सन्दर्भ ग्रन्थ

2.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के उपरांत आप-

1.भारतीय समाज की अवधारणा ,अर्थ एवं परिभाषाओं को जान सकेंगे।

2. भारतीय समाज की विशेषताओं के विषय को समझ सकेंगे।

3.सामाजिक प्रक्रिया व तत्वों जैसे - सहयोग, प्रतिस्पर्धा के विषय में विस्तृत जानकारी प्राप्त कर सकेंगे |

2.1 प्रस्तावना

¬ प्रस्तुत इकाई में भारतीय समाज की विशेषताओं, प्रक्रियाओं तथा तत्वों के विषय पर विचार किया गया है। सामाजिक प्रक्रिया परिस्थिति में पहले से मौजूद शक्तियां क्रियाशीलता के माध्यम से एक निश्चित तरीके से होने वाले निरन्तर से लगाया जाता है। सहयोग वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा एकाधिक व्यक्ति या समूह अपने प्रयत्नों को बहुत कुछ संगठित रूप से सामान्य उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए संयुक्त करते हैं। प्रतिस्पर्धा एक सामाजिक प्रक्रिया है। इसमें दो या दो से अधिक व्यक्ति अथवा समूह समाल उद्देश्य प्राप्त करने का प्रयत्न करते है। संघर्ष एक सामाजिक प्रक्रिया है जो सभी समाजों में पायी जाती है। इस प्रक्रिया में व्यक्ति अथवा समूह किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए दूसरे व्यक्तियों अथवा समूहों को रोकने का प्रयत्न करते हैं। व्यवस्थापन वह ¬प्रक्रिया है जिसके द्वारा प्रतियोगी व्यक्ति व समूह एक दूसरे के साथ अपने सम्बंधों को अनुकूल करते हैं जिससे प्रतिस्पर्धा, अतिक्रमण या संघर्ष के कारण उत्पन्न कठिनाईयों को पार किया जा सके।

2.2 भारतीय समाज की विशेषताएं

भारतीय समाज एवं संस्कृति मानव समाज की एक अमूल्य निधि है। यदि संसार की कोई संस्कृति अमर कही जा सकती है तो निस्सन्देह वह भारतीय संस्कृति ही है जो अपनी समस्त आभा और प्रतिभा के

साथ चिरकाल से स्थायी है। अपने सुदीर्ध इतिहास में भारतवासियों ने एक ऐसी समाज व्यवस्था एवं संस्कृति का विकास किया जो अपने आप में मौलिक, अनूठी और विश्व की अन्य संस्कृतियों एवं समाज–व्यवस्थाओं से भिन्न है। इस देश के महापुरूषों तीर्थ स्थलों, प्राचीन कलाकृतियाँ, धर्म, दर्शन और सामाजिक संस्थाऐं भारतीय समाज एवं संस्कृति के सजग प्रहरी रहे है,। इस देश की संस्कृति को अजर–अमर बनाने में इन्होने महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

भारतीय समाज की उन निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख करेंगे, जिसके कारण हजारों साल बीत जाने पर वह आज भी जीवित है।

1. प्राचीनता एवं स्थायित्व –

भारत की संस्कृति एवं समाज व्यवस्था विश्व की प्राचीनतम संस्कृतियों एवं समाज व्यवस्थाओं में से एक है। समय के साथ–साथ मिस्र, युनान, रोम आदि प्राचीन संस्कृति नष्ट हो गई और उसके अवशेष मात्र ही बचे हैं, किन्तु हजारों वर्ष बीत जाने के बाद भी भारत की आदि संस्कृति व समाज व्यवस्था आज भी जीवित है। आज भी हम भारत में वैदिक धर्म को मानते है, पवित्र वैदिक मंत्रो का उच्चारण किया जाता है तथा विवाह भी वैदिक रीति से सम्पन्न होता है।

2. समन्वयवादी दृष्टिकोण –

जनजातिय, हिन्दू मुस्लिम, शक, हूण, ईसाई तथा विभिन्न प्रजनजातियों समूहों आदि सभी संस्कृतियों के प्रभाव से भारतीय संस्कृति नष्ट नहीं हुई वरन् उनसे समन्वय एवं एकता ही स्थापित हुई है। मुसलमानों का सूफी सम्प्रदाय भारत के आध्यात्मकवाद, योग, साधन और रहस्यवाद का संस्करण है। राम और रहीम, कृष्ण और करीम की एकता स्थापित कर महापुरूषों द्वारा हिन्दू और इस्लाम धर्म, में समन्वय करने का प्रयत्न किया गया है। इसी प्रकार से बौद्ध धर्म, हिन्दू धर्म का ही अगं बन गया है। भारतीय समाज एवं संस्कृति में समन्वय की महान शक्ति है, जो निरन्तर गतिमान रही है और आज तक विद्यमान है।

3. आध्यात्मवाद –

धर्म और आध्यात्मिकता भारतीय समाज व संस्कृति की आत्मा है। भारतीय संस्कृति में भौतिक सुख और भोग–लिप्सा को कभी भी जीवन का ध्येय नहीं माना गया। यहाँ आत्मा और ईश्वर के महत्व को स्वीकार किया गया है और शारीरिक सुख के स्थान पर मानसिक एवं आध्यात्मिक आनन्द को सर्वोपरि माना गया है। इसमें भोग और त्याग का सुन्दर समन्वय पाया जाता है।

4. धर्म की प्रधानता–

भारतीय समाज के जनजीवन पर वेदों, उपनिषेदो, पुराण, महाभारत, रामायण, भागवद् गीता, कुरान एवं बाइबिल का अत्यधिक गहरा प्रभाव है। इन महान् ग्रन्थों ने यहाँ के लोगों को आशावादी, आस्तिकता, त्याग, तप संयम आदि का पाठ पढ़ाया है। भारत के लोग सूर्योदय से सूर्यास्त तक तथा जन्म से मृत्युपर्यन्त अनेक धार्मिक कार्यो की पुर्ति करतें है।

5. सैहिष्णुता–

भारतीय समाज एवं संस्कृति की एक महान् विशेषता सहिष्णुता है। भारत में सभी सम्प्रदायों, जातियों, प्रजातियों एवं समुदायों के प्रति उदारता, सहिष्णुता एवं प्रेमभाव पाया जाता है। हमारे यहाँ समय–समय पर अनेक विदेशी संस्कृतियों का आगमन हुआ और सभी को फलने–फूलने का अवसर दिया गया। हमारे द्वारा असहिष्णु होकर कभी भी विदेशियों एवं अन्य संस्कृति के लोगों पर बर्बर अत्याचार नहीं किये गये।

6. अनुकूलनशीलता–

भारतीय संस्कृति को अमर बनाने में इसकी अनुकूलनशील प्रवृत्ति का महान योगदान है। भारतीय संस्कृति – अपने दीर्घ जीवन के लिए समय चक्र और प्रस्थितियों के अनुसार सदैव समाज के साथ सामन्जस्य करती रही है, जिसके परिणामस्वरूप यह आज तक बनी रही है। भारतीय परिवार, जाति, धर्म एवं संस्थाएँ समय के साथ अपने को परिवर्तित करते रहे हैं।

7. विचार और आदर्श

भारतीय संस्कृति में कुछ ऐसे तत्व है, जो युग–युगान्तर एक व्यक्ति के अस्तित्व के आधार होते है। 'सादा जीवन उच्च विचार' का सिद्धांत अपरिग्रह को श्रेष्ठता प्रदान करता है। इसी प्रकार इस आर्दश और विचारधारा से प्रेरणा प्राप्त करने वाला प्रत्येक प्राणी विश्व कुटुम्ब का सदस्य होता है। वह विश्व को एकता का पाठ पढाता है तथा सबको एक सूत्र (वसुधेव कुटुम्बकम) में बांधता है। भारतीय समाज एवं संस्कृति के ऐसे आदर्श और विचार सदैव एकता को बनाये रखने का प्रयत्न करते हैं।

8. वर्णाश्रम–

वर्ण एवं आश्रमों की व्यवस्था भारतीय समाज में श्रमविभाजन हेतु चार वर्णो– बाह्मण, क्षैत्रिय, वैश्य एवं शूद्र वर्ण की रचना की गयी। ब्राह्मण समाज में बुद्धि और शिक्षा के प्रतीक हैं, क्षत्रिय, शक्ति का कार्य तथा वैश्य भरण–पोषण एवं अर्थ– व्यवस्था का संचालन करते हैं जबकि शूद्र समाज की सेवा करते हैं। वर्ण व्यवस्था के साथ–साथ प्राचीन मनीषियों ने मनुष्य की आयु सौ वर्ष मानकर उसको चार आश्रमों– ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास में विभाजन किया था। आश्रमों का उद्देश्य मानव के चार पुरूषार्थो–धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की पूर्ति करना है जो कि व्यक्ति का सामाजिक और व्यावहारिक जीवन सम्भव बनाते हैं। भारतीयों की वर्णाश्रम व्यवस्था विश्व इतिहास को एक अद्वितीय देन है।

9. कर्म एवं पुनर्जन्म का सिद्धान्त –

भारतीय संस्कृति में कर्म को अत्यधिक महत्व दिया गया है। यह माना जाता है कि अच्छे कर्मो का फल अच्छा और बुरे कर्मो का फल बुरा मिलता है। श्रेष्ठ कर्म करने वाले को उच्च योनि में जन्म और सुखी जीवन व्यतीत करने का अवसर मिलता है जबकि बुरे कर्म करने वाले को निम्न योनि में जन्म लेना होता है तथा अनेक प्रकार के कष्ट उठाने पड़ते हैं। अत: कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्त द्वारा भारतीयों को सदैव अच्छे कर्म करने की प्रेरणा दी गयी है।

10. सर्वागीणता –

भारतीय समाज की एक विशेषता यह है कि इसका सम्बन्ध किसी एक जाति, वर्ण, धर्म, या किसी व्यक्ति विशेष से न होकर समाज के सभी पक्षों से है। और इसके निर्माण में राजा, किसान, मजदूर, शूद्र, ब्राह्मण आदि सभी का योगदान रहा है। भारतीय संस्कृति में कहा गया है 'सर्वेभवन्तु सुखिनै अर्थात सभी सुखी हों।

11. पुरूषार्थ –

पुरुषार्थ भी भारतीय समाज की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। पुरुषार्थ सिद्धान्त में व्यक्ति के जीवन के चार आधार माने गये हैं। ये चार आधार धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष हैं। धर्म नैतिक दायित्वों के निर्वाह से सम्बन्धित हैं जो व्यक्ति की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। 'काम' जीवन के आनन्द से सम्बन्धित हैं और मोक्ष तीनों पुरुषार्थो के पश्चात् आता हैं जिसका अर्थ 'पूर्ण संतुस्टी' से लिया जा सकता हैं। इसमें व्यक्ति जीवन–मरण के बन्धन से मुक्त होकर परमानन्द की प्राप्ति करता हैं। सभी पुरुषार्थ व्यक्ति को समाज में अनुशासन में रहने व अपने दायित्वों के निर्वाह की प्रेरणा देते हैं। इस रुप में ये भारतीय संस्कृति की गौरवमयी निधि कहे जा सकते हैं।

12. ऋण तथा यज्ञ –

हिन्दू जीवन–व्यवस्था में व्यक्ति पर पाँच प्रकार के ऋण माने गये हैं–देव–गण, ऋषि–ऋण, पितृ–ऋण, अतिथि–ऋण एवं नृ–ऋण। मनुष्य अपने दायित्वों का भली–भाँति निर्वाह करके इन ऋणों से मुक्ति पा सकता है। यह भारतीय संस्कृति की विशेषता है जो अन्य किसी संस्कृति में नहीं मिलती। इसी प्रकार पंच–महायज्ञों की व्यवस्था भी कर्तव्य–निर्वाह के दृष्टिकोण से की गई है जो व्यक्ति को त्यागमय जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा देती है जो भारतीय समाज की अद्वितीय विशेषता कही जा सकती है।

13. संस्कार –

भारतीय समाज में व्यक्ति को सामाजिक प्राणी बनने तथा उसके व्यक्तित्व का चतुर्मुखी विकास करने के उद्देश्य से 16 संस्कारों की व्यवस्था की गई हैं। उनका उद्देश्य समय–समय पर व्यक्ति का परिष्कार करना तथा उसे अपने पारिवारिक एवं सामाजिक कर्तव्यों का ज्ञान कराना होता हैं। ये 16 संस्कार क्रमश: – गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, चूडाकर्म, कर्ण–वेध, विधारम्म उपनयन, वेदारम्भ, के शान्त अथवा गोदान, समावर्तन, विवाह एवं अच्येष्टि हैं जो व्यक्ति के जन्म के पूर्व से प्रारम्भ होकर मरणोपरान्त चलते हैं। भारतीय समाज में इन सभी संस्कारों का विशेष महत्व हैं। क्योंकि ये सभी संस्कार व्यक्ति की नैसर्गिक प्रवृतियों को समाजोपयोगी बनाते है व उसे नैतिकता की ओर प्रवृत करते हैं।

14. जाति–व्यवस्था –

भारतीय समाज विभिन्न जातियों में विभक्त है और प्रत्येक जाति के अपने–अपने व्यवसाय रीति–रिवाज, रहन–सहन के तरीकें एवं कर्तव्य निश्चित हैं। जाति–व्यवस्था के अलग नियम होते है, जाति पंचायतें होती है, विवाह सम्बन्ध आदि के अलग–अलग तरीके है, जिनका उल्लंघन करने पर दण्ड की व्यवस्था की गई है। जाति–व्यवस्था भारतीयों के जीवन कों अनेक रुपों में प्रभावित करती हैं। यह जाति व्यवस्था भारतीय संस्कृति का प्रमुख लक्षण मानी जा सकती है जिसने व्यावसायिक प्रतिस्पर्धा और सामुदायिक संघर्षो से मुक्त रहकर सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखा हैं। भारतीय समाज में जाति का महत्व इस रुप में भी है कि इसमें सदस्यता जन्म पर आधारित हैं तथा विवाह एवं व्यवसाय भी निश्चित होता हैं। इस रुप में भारतीय समाज में जाति व्यवस्था का महत्वपूर्ण स्थान माना जा सकता हैं।

15. संयुक्त–परिवार –

संयुक्त–परिवार भी भारतीय समाज की एक महत्वपूर्ण विशेषता कही जा सकती हैं। संयुक्त–परिवार से आशय उस परिवार से है जिसमें 3–4 या अधिक पीढ़ियों के सदस्य एक साथ निवास करते हैं और घर के सबसे बड़े सदस्य (मुखिया) के अधीन रहते हैं। सम्पति पर सभी का समानाधिकार होता है। प्राचीन समय में जब अर्थव्यवस्था कृषि पर आधारित थी तब संयुक्त–परिवारों का महत्व अधिक था। आज इस व्यवस्था में परिस्थितियों के परिणामस्वरुप परिवर्तन आ रहें हैं किन्तु फिर भी यह भारतीय समाज की अद्वितीय विशेषता कही जा सकती है।

16. विविधता में एकता –

विविधता में एकता' भारतीय समाज की एक महत्त्वपूर्ण विषेशता हैं। भारतवर्ष एक विशाल देश है। कश्मीर से कन्याकुमारी तक यहाँ भाषाएँ, धर्म, व्यवसाय, रीति–रिवाज, रहन–सहन, जनसंख्या, भौगोलिक पर्यावरण आदि के आधार पर अनेक भिन्नताएँ दृष्टिगोचर होती है लेकिन इन विविधताओं

के उपरान्त भी सम्पूर्ण भारतीय समाज की संस्कृति एक है जिसके कारण ही वह आज जीवित है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारतीय समाज की अपनी कुछ मौलिक विशेषताएँ है। उन्ही के कारण भारतीय समाज और संस्कृति में सदैव एकता रही है।

भारतीय समाज में विभिन्नता एवं बाहुल्यता

भारत एक विभिन्नताओं का देश हैं। भारतीय समाज के विभिन्न पक्षों में सर्वत्र अनेकता के दर्शन होते हैं। क्षेत्रगत, भाषागत, जातिगत, प्रजातिगत तथा धार्मिक विभिन्नता सम्पूर्ण समाज में व्याप्त हैं। इसी कारण भारतीय समाज एवं संस्कृति को एक रंगीन साड़ी नही वरन् बहु–रंगी चुनरी की संज्ञा दी जाती हैं। इस कथन का तात्पर्य यह है कि भारतीय संस्कृति में विभिन्न प्रकार के सांस्कृतिक तत्वों का एक अनुपम समन्वय देखने को मिलता हैं। भारतीय समाज में सैकड़ों जातियाँ और उपजातियाँ पायी जाती हैं। विभिन्न भाषा–भाषी लोग भी यहाँ मौजूद हैं। साथ ही अनेक धर्मो का जन्म–स्थल भी हैं। यहाँ कोई हिन्दू है तो कोई मुसलमान, कोई ईसाई है तो कोई बौद्ध, सिक्स आदि। यह देश भौगोलिक दृष्टि से भी अनेक क्षेत्रों में बँटा हुआ है। यहाँ जलवायु सम्बन्धी भिन्नताएँ भी कम नही हैं। साथ ही हम लोगों के रहन–सहन, खान–पान और वेशभूषा में भी कई प्रकार की भिन्नताएँ दिखाई पड़ती हैं। हम यहाँ इन विविधताओं को इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं।

1. भौगोलिक दशाओं में विभिन्नताएँ –

भारत एक विशाल देश हैं। इसी विशालता के कारण सम्पूर्ण भारतीय समाज विभिन्न क्षेत्रों में बँटा हुआ है। भारत में यदि एक ओर हिम से ढंकी हुई व आकाश को छूती पर्वतों की चोटियाँ और हिमालय की लम्बी व ऊँची पर्वत श्रेणियाँ हैं। तो दूसरी ओर समुद्र के लहरों से खेलते हुए विस्तृत उपजाऊ मैदान हैं। यदि एक और राजस्थान का शुष्क मरूस्थल हैं। जहाँ मीलों मानव का नामोनिशान नहीं हैं। तो दूसरी और सिन्दु–गंगा का मैदान भी हैं। जहाँ विशाल मानव–जीवन हिलोरे ले रहा हैं। यहाँ दोमट औंर कछारी, काली और लाल विभिन्न प्रकार की मिट्टियाँ पायी जाती हैं। किसी क्षेत्र की जमीन सोना उगलती हैं, तो किसी क्षेत्र की जमीन में बबूल भी नहीं उगता। इस भौगोलिक विभिन्नता का प्रभाव यहाँ के निवासियों के रंग, बनावट, रहन–सहन, खान–पान, वेश–भूषा, साज–सज्जा, भाषा, धर्म और विधि–विधानों पर पड़ता हैं।

2. जलवायु की विभिन्नताएँ–

भारत की जलवायु में भी बड़ी भिन्नता देखने को मिलती है। भारत को भोगोलिक दृष्टि से पाँच बड़े प्राकृतिक खण्डों में विभाजित किया गया है –

(1) उतर का पर्वतीय प्रदेश
(2) उतरी भारत का बड़ा मैदान
(3) दक्षिण का पठारी प्रदेश
(4) राजस्थान का मरुस्थल तथा
(5) समुद्रतटीय मैदान ।

इन विभिन्न क्षेत्रों में जलवायु सम्बन्धी काफी भिन्नता देखने को मिलती है। मैदानी क्षेत्रों में ऋतु एवं तापमान में परिवर्तन आता रहता है। पहाड़ी क्षेत्रों में अधिकाशंत: सर्दी का मौसम रहता है तो दूसरी ओर रेगिस्तानी प्रदेशों में गर्मी का। कई प्रदेशों में भारी वर्षा होती है तो कई क्षेत्रों में साल भर में मुश्किल से दो–चार इंच वर्षा होती है। अत: विभिन्न स्थानों की सांस्कृतिक भिन्नता का एक कारण जलवायु सम्बन्धी भिन्नता भी है।

3. धार्मिक विभिन्नताएँ –

भारत विभिन्न धर्मो की लीला भूमि है। मूलत: भारतवर्ष नौ धर्मो का संगम स्थल रहा है, किन्तु कालान्तर में विभिन्न संस्कृतियों के लोगों के आगमन के फलस्वरूप यहां अन्य धर्मो का भी प्रसार हुआ जिससे धार्मिक विभिन्नता और भी बढ़ती गयी। यहाँ विभिन्न धर्मो को मानने वाले लोगों की संख्या का प्रतिशत इस प्रकार है– हिन्दू 82.41 प्रतिशत, मुसलमान 11.67 प्रतिशत, ईसाई 2.32 प्रतिशत, सिक्ख1.99 प्रतिशत, बौद्ध 0.77 प्रतिशत, जैन 0.4। प्रतिशत, तथा अन्य 0.43 प्रतिशत। हिन्दू धर्म में अनेक देवी–देवताओं की पुजा–अर्चना की

जाती है। धार्मिक उत्सव, दान, व्रत, हवन, यज्ञ, तीर्थ–यात्रा आदि का विशेष महत्व है। बौद्ध धर्म में सद्दृष्टि, सद्भाव, सद्भाषण, सदप्रयत्न, सदनिर्वाह और सद्ध्यान इन सात संयमों पर बल दिया जाता है। जैन धर्म में त्याग और अहिंसा पर बल दिया हैं। इस्लाम धर्म एकेश्वरवादी धर्म है। सिक्ख धर्म एकेश्वरवादी व मूर्तिपूजा विरोधी है, धर्मो की विभिन्नता भारत की अपनी रोचक विशेषता हैं।

4. भाषा सम्बन्धी विभिन्नताएँ –

मानवीय अभिव्यक्ति का सर्वोतम साधन मानव की भाषा होती है। भाषा के माध्यम से ही विभिन्न सांस्कृतिक तत्वों को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित करती है। भारत विभिन्न भाषायी लोगों का देश है। हमारे देश में 189 भाषाएँ तथा 544 बोलियाँ प्रचलित हैं। यद्यपि भारतीय संविधान में 18 भाषाओं को मान्यता दी गयी हैं। इन 18 भाषाओं के अतिरिक्त मालवी, मैथिली, मारवाड़ी, भोजपुरी, पहाड़ी, राजस्थानी आदि भाषाएँ भी यहाँ महत्वपूर्ण हैं जिनका प्रयोग सामान्य लोग बोल–चाल में करते है। भाषायी भिन्नता पृथकतावाद के लिए उतरदायी हैं।

5. प्रजातीय विभिन्नताएँ –

भारत प्रजातियाँ प्राचीन काल से अनेक निवास कर रही है। यहाँ प्रमुखत: नीग्रिटो, प्रोटोआस्ट्रेलाइड, नार्डिक, भूमध्यसागरीय, मंगोल और आर्य भाषा–भाषी प्रजाति जैसे अल्पाइन, दीनारिक अमीनियाई आदि पाई जाती हैं। यह कहा जाता है कि स्मरणातीत युगों से भारत परस्पर विरोधी प्रजातियों और सभ्यताओं का संगम स्थल रहा हैं और इसमें आत्मसातकरण तथा समन्वय की प्रकियाएँ चलती रही हैं । सभी प्रजातियों में शारीरिक विभिन्नताओं के साथ–साथ रहन–सहन, खान–पान, वेष–भूषा, रीति–रिवाज एवं प्रथा परम्पराओं सम्बन्धी भिन्नताएँ भी पायी जाती है।

6. जनसंख्यात्मक विभिन्नताएँ –

इस देश में जनसंख्या की दृष्टि से अनेक भिन्नताएँ पायी जाती हैं। यहाँ विभिन्न जनजातीय समूहों की कुल जनसंख्या वर्तमान में कुल जनसंख्या का 8 करोड़ से कुछ ही अधिक है। प्रत्येक जनजातीय समूह की जीवन की एक विशिष्ट पद्धति है जो अन्य जनजातियों की जीवन– पद्धति से भिन्न हैं। भारत की जनसंख्या में संख्यात्मक एवं गुणात्मक दोनों ही प्रकार के परिवर्तन हो रहे हैं। यही 1901 में देश की जनसंख्या करीब 23 करोड़ थी जो 2001 में 102.70 करोड़ हो चुकी है। यहाँ पुरुषों की तुलना में स्त्रियों का अनुपात कम हैं। वर्तमान में देश में 1000 पुरुषों पर 933 स्त्रियाँ है। देश के विभिन्न भागों में जनघनत्व में भी काफी अन्तर पाया जाता है। पूरे देश का जनघनत्व 324 व्यक्ति प्रति किलोमीटर है। यहाँ 72.22 प्रतिशत लोग गाँवों में तो 27.78 प्रतिशत लोग नगरी में निवास करते है। इस देश के विभिन्न भागों में साक्षरता का प्रतिशत भी भिन्न– भिन्न है। देश की कुल जनसंख्या में 65.38 प्रतिशत लोग साक्षर हैं। पुरुषों में साक्षरता का प्रतिशत 75.85 और स्त्रियों में 54.16 हैं। राजस्थान में साक्षरता का कुल प्रतिशत 61.3 है जिसमें पुरुषों में 76.46 तथा महिलाओं में 44.34 प्रतिशत हैं।

7. सांस्कृतिक विभिन्नताऐं –

भारत के विभिन्न प्रदेशों में भाषा, रहन–सहन, खान–पान, वेश–भूषा, कला, संगीत तथा नृत्य, लोकगीत, लोकगाथा, विवाह–प्रणाली तथा जीवन संस्कारो में हमें अनेक रोचक व आकर्षक भेद देखने को मिलते है। ग्रामीण और नगरीय लोगों की, हिन्दू और मुसलमानो की परम्परावादी और आधुनिक कहे जाने वाले लोगो की वेश–भूषा और खान–पान में विविधता है। यहाँ विभिन्न नृत्य शैलियों के अतिरिक्त तुर्की, इरानी, भारतीय व पाश्चात्य चित्रकला, मूर्तिकला तथा वास्तुकला के विविध रूप देखने को मिलते है। यहाँ मंदिरो, मस्जिदों, गिरजाघरो, स्तुपों आदि में कला की भिन्नताओ का सरलता से पता लगाया जा सकता है।

उपर्युक्त सभी विभिन्नताओ के बावजूद भारत के विभिन्न भागो में एक–दुसरे के साथ निकट का सम्बन्ध है, उसी प्रकार का सम्बन्ध है जिस प्रकार का सम्बन्ध शरीर और उसके विभिन्न अंगो के बीच पाया जाता है। इस सम्बन्ध में फिलिप मेसन का कथन है–लोगो में सम्बन्धो की विविधता तथा अन्य समुदायों के प्रति जागरूकता ने भारतीयों में विविधता में एकता के विचार को पनपाया।

2.3भारतीय समाज में विविधताओं में मौलिक एकता

भारतीय समाज के अन्तर्गत पायी जाने वाली उपर्युक्त विभिन्नताओं को देखते हुए कहा जाता है कि भारतीय समाज अनेक क्षेत्रो में विभक्त विभिन्न प्रजातियों, भाषाओं, जनजातियों, तथा विभिन्न धर्मो कें अनुयायों का एक विशाल अजायबघर है, जिसमे विभिन्नता दिखलाई पड़ती है। इसके एक छोर से दूसरे छोर के मध्य थोड़ी–थोड़ी दुरी पर भाषागत, जातिगत, रहन–सहन, खान–पान, वेश–भूषा, विधि–विधान, रीति–रिवाज, सम्बन्धी अन्तर पाये जाते है।

यदि हम भारतीय समाज के जनजीवन का गहराई से अध्ययन करें तो ज्ञात होगा कि इन विभिन्नताओं और विषमताओं के पीछे आधारभूत कारण अखण्ड मौलिक एकता भारतीय समाज में व्याप्त है।

विभिन्नताओं के होते हुए भी सम्पूर्ण राष्ट्र में एकता के दर्शन होते है। इस सन्दर्भ में हर्बर्ट रिजले ने उचित ही लिखा है– भारत में धर्म, रीति–रिवाज और भाषा तथा सामाजिक और भौतिक विभिन्नताओं के होते हुए भी जीवन की एक विशेष एकरूपता कन्याकुमारी से लेकर हिमालय तक देखी जा सकती है वास्तव में भारत का एक विशिष्ट चरित्र एवं व्यक्तित्व है जिसकी अवहेलना नहीं की जा सकती है। भारत की विभिन्नता में एकता के दर्शन जिन क्षेत्रों में किए जाते है वे इस प्रकार है –

1. भौगोलिक विविधता में एकता –

यद्यपि भारतवर्ष को भौगोलिक दृष्टिकोण से कई क्षेत्र में विभक्त किया गया है फिर भी भारत एक सम्पूर्ण भौगोलिक इकाई है। प्रायदीप का सीमा क्षेत्र दुर्गम हिमाच्धदित पर्वतो, सागरो का बना है। जो इस देश के लोगो को अन्य देशो व वहाँ की संस्कृतियो से पृथक तो करता ही है, साथ ही इस भू–भाग में बसने वालो को राष्ट्रीय स्वरूप भी प्रदान करता है। यहाँ की पर्वत मालायें, नदियाँ, कछार, पठार, मैदान तथा सागर तट एक दुसरे के पूरक होकर जनजीवन को प्रभावित करते है तथा किसी एक भू–भाग पर आक्रमण अथवा अतिक्रमण होने पर समुचा देश उद्देलित हो उठता है।

2. विभिन्न धर्मो में एक ही स्वरूप –

देश में विभिन्न धर्मावलम्बी हैं जो अपनी पद्धत्ति के अनुसार पूजा उपासना करते हैं। ये धर्म व्यत्ति के सभी क्षेत्रो में विभिन्न धर्मावलम्बियों के तीर्थस्थल है। आध्यात्म, मत–मतान्तर एवं साहित्य ने एक दूसरे धर्म से बहुत कुछ अंगीकार किया है। ओर जनजीवन पर गंगा–जमुना ने बहुरंगी छवी छोड़ी है। धार्मिक सहिष्णुता का पराक्रम ऐसा रहा है कि सभी धर्म एक ही रंग में रंग से रंगे गये है।

3. सामाजिक सांस्कृतिक विविधता में एकता –

भारत के विभिन्न क्षेत्रों में बसे लोगों के परिवार, विवाह, रीति–रिवाज, वेष भूषा आदि में भी पर्याप्त मित्रता के बावजूद भारतीय समाज–व्यवस्था में सांस्कृतिक एकता के दर्शन होते हैं। संयुक्त परिवार प्रणाली, जाति प्रथा, ग्राम–पंचायत, गौत्र व वश–व्यवस्था भारतीय समाज के आधार रहे है। रक्षाबन्धन, दशहरा, दीपावली, होली, ईद, मोहर्रम आदि त्यौहारों का फैलाव समूचे भारत में है। इसी प्रकार सारे देश में जन्म–मृत्यु के संस्कार व विधियाँ, विवाह–प्रणालियाँ, शिष्टाचार, आमोद–प्रमोद, उत्सव, मेलों, सामाजिक रूढियों और परम्पराओं में पर्याप्त समानता देखने को मिलती है।

4. प्रजातीय विविधता में एकता –

यह सच है कि भारतीय समाज विभिन्न प्रजातियों का एक अजायबघर है। यहाँ विश्व की तीन प्रमुख प्रजातियाँ जिसमें श्वेत, पीत और श्याम वर्ण तथा इनकी उप शाखाओं के लोग निवास करते है। प्रजातीय भिन्नता होने पर भी अमेरिका एवं अफ्रीका की भाँति यहाँ प्रजातीय संघर्ष एवं टकराव रंगभेद के आधार पर नही वरन पारस्परिक सदभाव और सहयोग ही पनपा है। बाहर से आयी आर्य, द्रविड़, शक, हूण, तुर्क, पठान, मंगोल आदि प्रजातियाँ हिन्दू समाज में इतनी घुल मिल गई है कि इनका पृथक अस्तित्व आज पहचानना कठिन है।

5. जातीय विविधता में एकता –

भारत में विभिन्न जातियाँ पायी जाती हैं, जिनकी अपनी संस्कृति, प्रथाएँ और रीति–रिवाज हैं। फिर भी वे सभी हिन्दू–जाति व्यवस्था की ही अंग रही हैं और साथ ही जजमानी प्रथा द्वारा एक दूसरे पर निर्भर रही हैं। विभिन्न जातियों के लोग भारत की धरा पर रहते हुए एकता के सूत्र में बंधे रहते हैं और उनमें जातिगत पृथक्ता होने पर भी आन्तरिक एकता पायी जाती हैं। उस एकता का प्रत्यक्ष दर्शन युद्ध जैसी संकटकालीन स्थिति में होता है जब सब संकट का सामना करने के लिए एक साथ उठ खड़े होते हैं।

6. राजनीतिक विविधता में एकता–

इसमें सन्देह नही कि भारत में सदैव अनेक राज्य बनते बिगड़ते है, किन्तु राजनीतिक दृष्टिकोण से भारत सदैव एक रहा हैं। भारत के सभी महत्वाकांक्षी सम्राटों का ध्येय सम्पूर्ण भारत पर अपना एकछत्र साम्राज्य स्थापित कर चक्रवती बनने का रहा है और इसी ध्येय से राजसूर्य, वाजपेय, अश्वमेध यज्ञ किए जाते थे तथा राजाधिराज, चक्रवती आदि उपाधियों से सम्राट अपने को विभूषित करके यह व्यक्त करते थे कि भारत का विस्तृत भूखण्ड राजनीतिक तौर पर वास्तव में एक है। मध्य युग के कई मुसलमान बादशाहों जैसे अलाउद्दीन, अकबर, औरंगजेब द्वारा सम्पूर्ण भारत पर राज्य करने के प्रयत्न किए गए वे इसमें सफल भी हुए। स्वतंत्रता के बाद सम्पूर्ण देश में एक ही प्रजातंत्रीय सरकार की स्थापना हुई। राजनीतिक एकता और राष्ट्रीय भावना के आधार पर ही राष्ट्रीय आन्दोलनों व स्वतंत्रता संग्राम में देश के विभिन्न प्रान्तों के निवासियों ने खुलकर सक्रिय भाग लिया। इस राष्ट्रीय एकता की परख चीन एवं पाकिस्तान के आक्रमण के दौरान सामने आई।

7. ऐतिहासिक विविधता में एकता–

प्राचीन काल से ही भारत में विभिन्न धर्मो एवं प्रजातियों के लोग आते रहे है। उनकी संस्कृति में पृथक्ता होना स्वाभाविक है, किन्तु जब वे भारत में स्थायी रुप से बस गये तो उन्होंने एक समन्वित संस्कृति एवं समान परम्पराओं व इतिहास की रचना की। तात्पर्य यह है कि ऐतिहासिक दृष्टिकोण से भी भारतीय समाज व संस्कृति में सदैव एकता विधमान रही है।

8. भाषाई विविधता में एकता–

भारत वर्ष में भाषाओं की बहुलता है, परन्तु रोचक तथ्य तो यह है कि वे सभी एक ही साँचे में ढली हुई हैं। अधिकांश भाषाओं की वर्णमाला एक ही है व उन सभी पर संस्कृत भाषा का प्रभाव देखने को मिलता है। कतिपय शताब्दी पश्चात् संस्कृत जैसी एक अन्य भाषा ने इस उप–महाद्वीप के दूरस्थ कोनों में भी अपना प्रभाव जमा लिया। त्रिभाषा फार्मूले के अन्तर्गत शिक्षण संस्थाओं में छात्रों को हिन्दी, अंग्रेजी व एक अन्य प्रान्त की भाषा सिखायी जाती है। इससे विभिन्न भाषा–भाषियों के बीच एकता के भाव पैदा हुए हैं। समस्त देश के विद्वानों ने समाज को एक सूत्र में पिरोने का काम पहले प्राकृत व संस्कृत भाषा द्वारा किया, बाद में अंग्रेजी एवं आज हिन्दी द्वारा कर रहे हैं।

9. कलात्मक विविधता में एकता–

भारतीय जीवन में कला की एकता भी कम उल्लेखनीय नही है स्थापत्य कला, मूर्तिकला, चित्रकला, नृत्य, संगीत आदि के क्षेत्र में हमें अखिल भारतीय समानता देखने को मिलती है। देश के विभिन्न भागों में बने मन्दिरों मस्जिदों, गिरजाघरों, आवास भवनों तथा इमारतों में भी कला के अपूर्व संयोजन का आभास होता है। दरबारी, ध्रुपद, भजन, टप्पा, गजल यहाँ तक कि पाश्चात्य धुनों का भी विस्तार सारे भारतवर्ष में हैं। इसी प्रकार भारतनाट्यम, कथकत्ती, कत्थक आदि नृत्य भारत के सभी भागों में प्रचलित हैं। अत: कला के क्षेत्र में भी भारत में अखण्ड एकता हैं।

निष्कर्षत : यह कहा जा सकता है कि यदपि देश में अनेक आक्रमण हुए, राजवंश परिवर्तित हुए, सभ्यताएँ नष्ट हुई किन्तु अनेक संघर्षो के उपरान्त भी भारतीय समाज की सांस्कृतिक एकता, धार्मिक, भाषायी, भौगोलिक, कला एवं साहित्यिक आदि सभी क्षेत्रों में एकता आज भी अक्षुण्ण है।

2.4 सारांश

प्रस्तुत इकाई में भारत समाज के अर्थ, परिभाषा अथवा अवधारणा का अध्ययन किया। भारतीय समाज की विशेषताओं के बारे में ज्ञान प्राप्त किया। सामाजिक प्रक्रिया व तत्वों के विषय में भी इसी इकाई में अध्ययन किया तथा इसके पश्चात् सहयोग, प्रतिस्पर्धा, संघर्ष तथा व्यवस्थापन के अर्थ को समझा, उसकी परिभाषाओं तथा विशेषताओं के विषय में अध्ययन किया।

2.5 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. भारतीय समाज की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
2. सामाजिक प्रक्रिया से आप क्या समझते है ? चर्चा कीजिए।
3. सामाजिक प्रक्रिया में सहयोग की भूमिका का उल्लेख कीजिए।
4. प्रतिस्पर्धा और संघर्ष में अंतर स्पष्ट कीजिए।
5. सहयोग एवं व्यवस्थापन में अंतर स्पष्ट कीजिए।

2.6 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. अहूजा, आर (1999) सामाजिक समस्याएं, रावत पब्लिकेशन्सः जयपुर
2. अहूजा, आर. एवं. अहूजा एम. (2008) समाजशास्त्र: विवेचना एवं परिप्रेक्ष्य, रावत पब्लिकेशन्सः जयपुर
3. चन्द्र, एस.एस. (2002) भारतीय सामाजिक संरचना, कनिष्का पब्लिशर्स: नई दिल्ली
4. चन्द्र, एस.एस. (2002) भारत में सामाजिक समस्याएं: कनिष्का पब्लिशर्स: नई दिल्ली
5. दोषी, एस. एल. एवं जैन, पी.सी. (2005) भारतीय समाज, नेशनल पब्लिसिंग हाउसः जयपुर
6. शर्मा, आर.एन.एवं. शर्मा, आर. के. (2002) सामाजिक विघटन, एटलांटिक पब्लिशर्स एवं डिस्ट्रीब्यूटर्स: नई दिल्ली

इकाई-3

समाजीकरण

इकाई की रूपरेखा -

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 समाजीकरण की अवधारणा

3.3 समाजीकरण की परिभाषा

3.4 समाजीकरण की विशेषताये

3.5 समाजीकरण के उद्देश्य

3.6 समाजीकरण की प्रक्रिया

3.7 सामाजीकरण के अभिकरण

3.8 सारांश

3.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

3.10 सन्दर्भ ग्रन्थ

3.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में पढ़ने के पश्चात् आप-

1.समाजीकरण के अर्थ एवं अवधारणा को जान सकेंगे।

2. समाजीकरण की प्रक्रिया के विषय में अध्ययन कर सकेंगे।

3. समाजीकरण के अभिकरण के विषय को भली प्रकार समझ सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में समाजीकरण के विषय पर विचार किया गया है। समाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में प्रवेश करता है तथा समाज के विभिन्न समूहों का सदस्य बनता है और जिसके द्वारा उसे समाज के मूल्यों, मानकों को स्वीकार करने की प्रेरणा मिलती है। समाजीकरण मिलकर काम करने, सामूहिक उत्तरदायित्व की भावना को विकसित करने और दूसरों के कल्याण सम्बंधी आवश्यकताओं द्वारा निर्देशित होने की प्रक्रिया है। समाजीकरण के द्वारा व्यक्ति समाज का एक जिम्मेदार सदस्य बनता है। इस ¬प्रक्रिया ये व्यक्ति सीखने की क्षमता आवश्यकता पूर्ति के उपाय, परम्पराओं का पालन, विचारधारा, अनुकूलन की क्षमता, समायोजन आदि सामाजिक गुणों को सीखता है एवं उनका विकास करता है। समाजीकरण में वह सभी प्रयास शामिल होते है। जो व्यक्ति को समाज के मापदण्डों के अनुरूप बनाते है।

3.2 सामाजीकरण की अवधारणा

व्यक्ति की मूल रूप से दो प्रकार की आवश्यकतायें होती हैं- जन्मजात तथा अर्जित। इन आवश्यकताओं की संतुष्टि के लिए उसे अनेक उपाय सीखने होते हैं। जब एक विशिष्ट उपाय से किसी एक आवश्यकता की संतुष्टि हो जाती है तो वह उस आवश्यकता की संतुष्टि के लिए सदैव वही उपाय करता है। बार-बार उपाय के प्रयोग के फलस्वरूप यह उसके व्यवहार का अंग बन जाता है। धीरे-धीरे अनेक तरीके उसके व्यवहार का अंग बनते जाते हैं। उपायों को वह अन्तःक्रिया के फलस्वरूप सीखता है। प्रारम्भ में उसकी आवश्यकता केवल भोजन की होती है। इसके लिए वह रोने का प्रत्यक्ष तरीका अपनाता है परन्तु आयु बढ़ने के साथ-साथ रोना कम कर देता है और निर्धारित सामाजिक ढंग द्वारा इनकी पूर्ति करता है। इसी प्रकार अन्य आवश्यकताओं की संतुष्टि के लिए वह सामाजिक स्वीकृत तरीकों को सीखता है। इस सीखने के पीछे सामाजिक अनुकूलन प्राप्त करना उद्देश्य होता है। जिस प्रक्रिया के द्वारा व्यक्ति समाज के अनुकूल बनता है उसे ही समाजीकरण कहते हैं। मानव तथा पशु में अन्तर केवल आवश्यकताओं की पूर्ति के ढंगों द्वारा स्पष्ट होता है। पशु सदैव एक सा व्यवहार करता है परन्तु मानव के व्यवहार में परिवर्तन आता रहता है तथा वह मानवीय स्वरूप को धीरे-धीरे प्राप्त करता है। समाज के रीति रिवाज, प्रथायें, रूढ़ियाँ, विश्वास आदि ग्रहण करने को ही व्यक्ति का समाजीकरण कहते हैं।

सामान्यतया व्यक्ति अकेला नहीं रहना चाहता क्योंकि जन्म के समय से ही वह दूसरों पर निर्भर होता है। प्रारम्भ में उसका सामाजिक भागीकरण कम होता है परन्तु धीरे-धीरे इसमें वृद्धि होती जाती है। प्रत्युत्तर में भी भिन्नता देखने को मिलती है। इन प्रत्युत्तरों का कारण व्यक्ति का दूसरों पर आश्रित होना है। इन प्रत्युत्तरों का प्रकार सामाजिक सम्बन्धों की विशिष्टता पर निर्भर होता है। सामाजिक सम्बन्ध सामाजिक प्रतिमान निश्चित करते हैं तथा व्यक्ति इन प्रतिमानों के अनुसार व्यवहार करता है। तथा उनको अपनी आदत का अंग बनाता है। ये आदतें व्यक्तित्व की स्थायी विशेषतायें बन जाती हैं।

व्यक्ति के व्यक्तित्व एवं उसकी सामाजिक भावना का विकास साथ-साथ होता है। उम्र के बढ़ने पर बालक सामाजिक रूचि का विकास करता है। वह अन्य बालकों के साथ खेलता है तथा क्रिया-कलापों में भाग लेता है। वह दूसरों पर अपना प्रभाव डालना सीखता है तथा आत्म सम्मान की भावना का विकास करता है। धीरे-धीरे वह समाज के सभी गुणों को अपने व्यवहार का अंग बना लेता है। वह सामाजिक तथा सांस्कृतिक पर्यावरण का एक जिम्मेदार सदस्य बनता है। अतः जिस तरीके से व्यक्ति समाज के अनुकूल बनता है, उसकी विशेषताओं को ग्रहण करता है तथा सामाजिक जीवन के ढंग अपनाता है उसे समाजीकरण कहते हैं।

3.3 सामाजीकरण की परिभाषा

व्यक्ति को उसकी शारीरिक बनावट के आधार पर ही उसका मूल्यांकन नहीं हो सकता है। सही मूल्यांकन हेतु उसके अन्दर व्यवहारिक एवं मानसिक गुणों का होना आवश्यक होता है। इन गुणों का विकास समाज में होता है और इन गुणों को सीखने की प्रक्रिया को ही सामाजीकरण कहते है। सामाजीकरण के सन्दर्भ में अनेक परिभाषाएं विद्धानों ने प्रस्तुत की जो निम्न हैं:

गीन, ए. डब्लू. के अनुसार, ''सामाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा बच्चा सांस्कृतिक विशेषताओं और व्यक्तित्व को प्राप्त करता है।''

बोगार्डस, ई. एस. के अनुसार, ''सामाजीकरण मिलकर काम करने, सामूहिक उत्तरदायित्व की भावना को विकसित करने और दूसरों के कल्याण सम्बन्धी आवश्यकताओं द्वारा निर्देशित होने की प्रक्रिया है।''

गिलिन और गिलिन के अनुसार, ''सामाजीकरण से हमारा तात्पर्य उस प्रक्रिया से है जिसके द्वारा व्यक्ति समूह का क्रियात्मक सदस्य बनता है। लोकाचार, परम्परा तथा सामाजिक परिस्थितियों के साथ समन्वय स्थापित करता है।''

किम्बाल के अनुसार, ''सामाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में प्रवेश करता है तथा समाज के विभिन्न समूहों का सदस्य बनता है और जिसके द्वारा उसे समाज के मूल्यों, मानकों को स्वीकार करने की प्रेरणा मिलती है।

उपर्यक्त परिभाषाआंे के आधार पर कह सकते हैं कि सामाजीकरण के द्वारा व्यक्ति समाज का एक जिम्मेदार सदस्य बनता है। इस प्रक्रिया में व्यक्ति सीखने की क्षमता आवश्यकता पूर्ति के उपाय, परम्पराओं का पालन, विचार धारा, अनुकूलन की क्षमता, समायोजन आदि सामाजिक गुणों को सीखता है एवं उनका विकास करता हैं। सामाजीकरण में वह सभी प्रयास शामिल होते है। जो व्यक्ति को समाज के मापदण्डों के अनुरूप बनाते है।

3.4 सामाजीकरण की विशेषताये

सामाजीकरण द्वारा व्यक्ति के व्यक्तित्व को परिष्कृत किया जाता है। इसकी निम्नलिखित विशेषतायें हैं:

सीखना:-व्यक्ति सामाजीकरण प्रक्रिया में उन व्यवहारों को सीखता है जो कि मूल्यों, आदर्शों पर आधारित हो। सामाजीकरण में व्यक्ति उच्चीकृत व्यवहारों को सीखकर समाज में बेहतर समायोजन स्थापित करता है। जो सीखना समायोजन से सम्बन्धित होता है वही सीखने में सहायक होता है। क्योंकि ज्ञान सामाजीकरण के अन्तर्गत आता है।

प्रक्रिया:-सामाजीकरण की प्रक्रिया मे व्यक्ति जन्म से ही सीखने की प्रक्रिया शुरू कर देता है और अनवरत चलती रहती है। इसके अन्तर्गत शारीरिक एवं मानसिक विशेषताएं ग्रहण की जाती हैं। पारस्परिक प्रभाव पूर्णता की विशेषता के कारण समाज में सभी व्यक्ति अन्तःक्रिया करते हैं। जिसके फलस्वरूप एक दूसरे से प्रभावित होते हैं। यह प्रक्रिया अनवरत चलती रहती है।

आत्म विकास:-परिपक्वता एक स्वाभाविक क्रिया है। व्यक्ति जैसे-जैसे परिपक्वता प्राप्त करता है। उसी क्रम में उसके शारीरिक, मानसिक आवश्यकताओं में वृद्धि होती है जिसके फलस्वरूप उसके व्यवहार में परिवर्तन आता है। आत्म विकास और सामाजीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है। जो जन्म के साथ ही प्रारम्भ हो जाती है और जीवन पर्यन्त चलती रहती हैं।

सामाजिक दायित्व:- सामाजीकरण के तहत व्यक्ति सामाजिक दायित्वों का निर्वाह करना सीखता है एवं सामाजिक व्यवहारों को सीखकर भूमिकाओं का सम्पादन करता है। इस प्रक्रिया में व्यक्ति संस्कृति को ग्रहण करके समायोजन को प्रभावी एवं महत्वपूर्ण बनाता है तथा व्यक्ति की सामाजिक भूमिकाओं को परिभाषित करके उद्देश्य पूर्ण बनाता है।

3.5 समाजीकरण के उद्देश्य

(1) अनुशासन का विकास - समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा व्यक्ति में सामाजिक तथा सांस्कृतिक मूल्यों को स्वीकार करने तथा समाज-सम्मत आचरण करने की शिक्षा प्राप्त होती है। बचपन से ही बालकों को अच्छे कार्यों

के लिए प्रोत्साहन तथा बुरे कार्यों के लिए दण्ड दिया जाता है। उचित वच अनुचित का भेद बच्चा समाज से ही सीखता है। परिवार में बालक को सुबह उठने, पढ़ने, स्कूल जाने तथा सोने की सामयिक आदत डाली जाती है। इसके अतिरिक्त व्यक्ति के जीवन में नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ अचेतन द्वारा इच्छाओं की पूर्ति के लिये दबाव डालती है जिसे समायोजित व्यक्तित्व वाला मनुष्य सामाजिक नियमों तथा आचार संहिताओं के अनुसार व्यवहार द्वारा नियंत्रित करता है। इस प्रकार समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा व्यक्ति विभिन्न परिस्थितियों में भविष्य के उद्देश्यों तथा सामाजिक मूल्यों को ध्यान में रखकर व्यवहार करता है।

(2) आकांक्षाओं की पूर्ति - अनुशासन स्वयं ही व्यक्ति को कोई पुरस्कार नहीं देता, बल्कि यह आकांक्षाओं की पूर्ति में सयहायक होता है। व्यक्ति के इच्छाओं की प्रकृति इस तथ्य पर निर्भर होती है कि वहाँ की सामाजिक व्यवस्था किस प्रकार की है? उदाहरणार्थ, यदि एक समाज की अर्थव्यवस्था उच्च तकनीकी ज्ञान पर आधारित है तभी अनेक व्यक्ति उद्योगपति, वैज्ञानिक अथवा इंजीनियर बनने की आकांक्षा रखेंगे। समाजीकरण की प्रक्रिया का उद्देश्य व्यक्ति में आकांक्षाओं के स्वरूप का निर्धारण कर उनकी उद्देश्य पूर्ति में सहायता देना है। समाजीकरण की प्रक्रिया व्यक्ति में उन सामाजिक क्षमताओं तथा योग्यताओं का निर्धारण तथा उनकी पूर्ति हेतु स्वीकृत सामाजिक आचरणों का अनुसरण कर सके।

(3) सामाजिक दायित्वों की पूर्ति का प्रशिक्षण - समाज में प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह ध्यान रखना जरूरी होता है कि दूसरे व्यक्तियों की तुलना में उसका पद क्या है? इसका ध्यान रखते हुए ही व्यक्ति को तरह-तरह की भूमिका निभानी पड़ती है। उदाहरण के लिए, एक नेता तथा अनुयायी, शिक्षक और विद्यार्थी तथा वक्ता और श्रोता की भूमिका एक-दूसरे से भिन्न लेकिन एक-दूसरे की पूरक होती हे। समाजीकरण की प्रक्रिया यह सिखाती है कि विभिन्न परिस्थितियों में व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों के व्यवहारों से किस प्रकार सामंजस्य स्थापित करे और उन व्यक्तियों से अनुकूलन करने के लिए किस प्रकार की भूमिका निभाये। व्यक्ति की भूमिका ही यह निश्चित करती है कि उसमें किस प्रकार के गुण, विचार, मनोवृत्तियाँ और व्यक्तित्व सम्बन्धी विशेषताएँ होनी आवश्यक हैं।

(4) सामाजिक क्षमताओं का विकास सामाजिक क्षमताओं का तात्पर्य उन गुणों से है जो व्यक्ति को समाज से अनुकूलन कराने में सहायक होते हैं। उदाहरण के लिए, पत्र लिखने की कला, पड़ोसियों से विनम्र व्यवहार, मित्रों से स्पष्ट वार्तालाप, बड़ों का सम्मान करना तथा भोजन की सुन्दर व्यवस्था आदि कुछ सामाजिक क्षमताएँ हैं जो व्यक्ति के राजनीतिक तथा आर्थिक जीवन को प्रभावित करती हैं। समाजीकरण की प्रक्रिया का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य व्यक्ति में उन सामाजिक क्षमताओं को विकसित करना है जिससे वह भी क्षेत्रों में अपने दायित्व का सफलतापूर्वक निर्वाह कर सके।

3.6 समाजीकरण की प्रक्रिया

(1) मौलिक अवस्था

बच्चे के जीवन की यह पहली अवस्था है। इसय समय बच्चे की सभी आवश्यकताएँ केवल शारीरिक और मौलिक होती हैं। भूख लगना, ठण्ड अथवा गर्मी महसूस करना, प्रत्येक कार्य में असुविधा महसूस करना ही उसकी प्रमुख समस्याएँ होती हैं। इस प्रकार इस स्तर में समाजीकरण की प्रक्रिया का उद्देश्य केवल मौलिक रूप से बच्चे की दूसरों पर निर्भरता को स्पष्ट करना है। इस समय बच्चा परिवार में अपनी माँ के अतिरिक्त और किसी को नहीं जानता। पार्सन्स का विचार है कि दूसरे सदस्यों के लिए तो ऐसा बच्चा केवल एक 'मनोरंजक वस्तु' के रूप में ही होता है, तब प्रश्न उठता है कि इस स्तर में बच्चा किन विशेषताओं को सीखता है? वास्तव में इस समय बच्चे और

माँ के कार्यों में कोई भिन्नता नहीं होती, इस कारण उसमें केवल एक ही विचार पैदा होता है कि वह और उसकी माँ एक- दूसरे में बिल्कुल भी पृथक् नहीं है। इस स्थिति को फ्रायड ने प्राथमिक एकरूपता कहा है। इसके बाद भी इस स्तर में बच्चा अपनी भूख पर कुछ नियन्त्रण रखना सीख जाता है। बच्चा माँ के शारीरिक सम्पर्क से आनन्द भी अनुभव करने लगता है। यहीं वे विशेषताएँ हैं जो उसमें 'क्रिया' सम्बन्धी विचार उत्पन्न कर देती हैं। इस प्रकार सामान्यतः समाजीकरण का यह स्तर आयु के एक- डेढ़ वर्ष तक ही रहता है।

(2) शैशव अवस्था

इस स्तर का आरम्भ विभिन्न प्रकार के परिवारों और समाजों में भिन्न-भिन्न आयु से होता है, लेकिन हम अपने समाज में इस स्तर का आरम्भ डेढ़-दो वर्ष की आयु से मान सकते हैं। इस स्तर में सबसे पहले बच्चे से यह आशा की जाने लगती है कि वह शौच सम्बन्धी क्रियाओं को सीखकर उन्हें स्वयं करे। बच्चे को साबुन से हाथ साफ करने और कपड़े गन्दे न करने की शिक्षा दी जाने लगती है। इसके फलस्वरूप बच्चा दो भूमिकाएँ निभाना शुरू कर देता है- वह माँ से प्यार की इच्छा ही नहीं रखता बल्कि स्वयं भी माँ को स्नेह देने लगता है। इस स्तर में सबसे पहले बच्चे के सही और गलत कामों में विभेद किया जाने लगता है। सही काम के लिए माँ बच्चे को प्यार करती है और गलत काम करने पर अक्सर डाँटती या नाराज होने का प्रदर्शन करती है। यहीं से बच्चा अपने परिवार और संस्कृति के सामान्य मूल्यों के अनुसार व्यवहार करना शुरू कर देता है। इस समय बच्चे में अनुकरण की प्रवृत्ति ही उत्पन्न नहीं होती, बल्कि वह विभिन्न परिस्थितियों में किये जाने वाले भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यवहारों की ओर ध्यान केन्द्रित करना शुरू कर देता है। इस स्तर में बच्चा केवल माँ से ही सम्बद्ध नहीं रहता, बल्कि परिवार के दूसरे सदस्यों के व्यवहार भी उसे प्रभावित करने लगते हैं। सदस्यों द्वारा क्रोध, स्नेह, विरोध और सहयोग का प्रदर्शन बच्चे में भी प्रेम अथवा तनाव की स्थिति पैदा करता है। पार्सन्स का कथन है कि परिवार में सदस्यों द्वारा दोहरा कार्य-ग्रहण इस स्तर में समाजीकरण का सबसे बड़ा माध्यम होता है। इसके फलस्वरूप व्यक्तित्व के विविधता सम्बन्धी गुण इसी स्तर में उत्पन्न होने लगते हैं।

(3) तादात्म्यीकरण अवस्था

जॉन्सन के अनुसार इस स्तर का आरम्भ सामान्यतः तीन-चार वर्ष की आयु से होता है और यह बारह-तेरह वर्ष की आयु तक रहता है। इस स्तर के आरम्भ में बच्चा पूरे परिवार से सम्बद्ध हो जाता है। इस समय यद्यपि वह यौनिक व्यवहार से पूर्णतया परिचित नहीं होता लेकिन अव्यक्त रूप से उसके अन्दर यौन-भावना विकसित होने लगती है। बालक से यह आशा की जाने लगती है कि वह अपने लिंग के अनुरूप आचरण करना शुरू करे। बालक यदि इस प्रत्याशा के अनुरूप व्यवहार करता है तो स्नेह और पुरस्कार के रूप में उसे प्रोत्साहन दिया जाता है। आरम्भ में बच्चा अपने लिंग और परिस्थिति से पूर्ण तादात्म्यीकरण अथवा अनुरूपता स्थापित नहीं कर पाता, क्योंकि उसमें ईष्र्या अथवा उद्वेग अधिक हो सकते हैं, लेकिन जैसे-जैसे वह उन पर नियन्त्रण करना सीखने लगता है, समाजीकरण की प्रक्रिया में पूर्णता आने लगती है। बच्चा अपने लिंग के बारे में (अर्थात् वह एक लड़का है अथवा एक लड़की है) पूर्णतया जागरुक हो जाता है तथा विपरीत लिंग के सदस्यों में उसकी रुचि बढ़ने लगती है।

इस स्तर में समाजीकरण की प्रक्रिया तादात्म्यीकरण के दो रूपों में स्पष्ट होती है- (क) सामाजिक भूमिका से तादात्म्यीकरण तथा (ख) सामाजिक समूहों से तादात्म्यीकरण उदाहरण के लिए, पिता, भाई, सम्बन्धियों तथा परिवार के सभी सदस्यों की आशाओं के अनुरूप बनना सामाजिक भूमिका से तादात्म्यीकरण का उदाहरण है। दूसरी ओर अपने लिंग के सदस्यों, स्कूल के साथियों और मित्रों के अनुरूप कार्य करना सामाजिक समूह से तादात्म्यीकरण का उदाहरण है। इस स्तर में बच्चा प्रत्येक क्रिया को करते समय दूसरों के अनुरूप बनने का प्रयत्न

करता है और इस अनुरूपता में ही वह यह समझने लगता है कि पिता का स्थान माँ से कुछ भिन्न है। इसी से उसमें यह भावना उत्पन्न होने लगती है कि परिवार या समूह में विभिन्न सदस्यों की स्थिति एक समान नहीं होती। यह सच है कि इस सम्पूर्ण स्तर में समाजीकरण की प्रक्रिया माँ द्वारा सबसे अधिक प्रभावित होती है लेकिन यह तादात्म्यीकरण अधिक सफल तब होता है जब परिवार में चार परिस्थितियाँ विद्यमान हों- (क) यदि पुत्र को पिता का और पुत्री को माँ का पूरा स्नेह मिलता हो, (ख) बच्चा परिवार या समूह में जिस सदस्य को अपना माॅडल मानता है, उसका बच्चे से घनिष्ठ सम्बन्ध हो, (ग) परिवार के अन्य सदस्य बच्चे को पिता में निष्ठा रखने का प्रोत्साहन देते हों, तथा (घ) पिता का माँ से सम्मानपूर्ण व्यवहार हो। ये दशाएँ बच्चे को कुण्ठा और तनाव से बचाकर उसे भावात्मक सुरक्षा प्रदान करती हैं, जो समाजीकरण की सफलता का प्राथमिक आधार है।

(4) किशोरावस्था

इस स्तर का आरम्भ यौवन के पहले चरण ;च्नइमतजलद्ध से होता है। अधिकतर विद्वानों ने समाजीकरण की प्रक्रिया में इस स्तर को सबसे अधिक महत्वपूर्ण माना है क्योंकि यह अवधि सामाजिक और मानसिक रूप से सबसे अधिक तनावपूर्ण होती है। एक ओर किशोर अधिक से अधिक स्वतन्त्रता की माँग करने लगता है जबकि दूसरी ओर परिवार और विभिन्न समूहों द्वारा उसके सभी व्यवहारों पर कुछ न कुछ नियन्त्रण रखने पर जोर दिया जाता है। इस समय बच्चे से यह आशा की जाने लगती है कि वह अपने बारे में महत्वपूर्ण निर्णय स्वयं ले। इसके पश्चात् भी उसे प्रत्येक निर्णय लेने के समय अपने सांस्कृतिक मूल्यों को ध्यान में रखने का प्रशिक्षण दिया जाता है जो अक्सर किशोर की भावनाओं के प्रतिकूल होता है। यही कारण है कि इस स्तर में बच्चे में कुछ न कुछ तनाव सदैव बने रहते हैं। इस स्तर पर किशोर को पड़ोस, विद्यालय, खेल के साथियों और नवागन्तुकों के विचारों से भी समायोजन करना पड़ता है। यहाँ पर समाजीकरण की प्रक्रिया उन बहुत से निषेधात्मक नियमों से प्रभावित होती है जिनका एक संस्कृति में विशेष महत्व होता है। सामान्यतः मध्यमवर्गीय परिवारों में इसी स्तर से एक किशोर आर्थिक क्रियाएँ करना भी शुरू कर देता है। ऐसी स्थिति में आर्थिक जीवन की सफलता भी समाजीकरण का महत्वपूर्ण माध्यम बन जाती है। किशोरावस्था के अनुभव उसे विभिन्न परिस्थितियों का सामान्यीकरण करना सिखाते हैं। इसी स्तर के अन्तिम चरण में उसमें पराहम् अर्थात् नैतिकता की भावना के दर्शन होने लगते हैं। इस प्रकार किशोरावस्था समाजीकरण का वह स्तर है, जिसमें सांस्कृतिक मूल्यों और व्यक्तिगत अनुभवों के द्वारा आत्म-नियन्त्रण की धारणा को बल मिलता है।

वास्तविकता यह है कि समाजीकरण की प्रक्रिया किशोरावस्था के बाद ही समाप्त नहीं हो जाती। किसी न किसी रूप में यह जीवन भर चलती रहती है। इसके बाद भी यह मानना पड़ेगा कि किशोरावस्था के बाद यह प्रक्रिया उतनी कठिन नहीं रह जाती। इसके तीन कारण मुख्य हैं: प्रथम तो यह कि एक वयस्क व्यक्ति प्रत्येक कार्य को किसी उद्देश्य से प्रभावित होकर करता है, दूसरा कारण यह है जिन नयी भूमिकाओं को करना चाहता है वह प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से पहले पूरी की गयी भूमिकाओं के ही कुछ समान होती हैं तथा अन्तिम कारण यह है कि भाषा की परिपक्वता के कारण वह नयी प्रत्याशाओं को जल्दी ही समझ लेता है। यही कारण है कि समाजीकरण की प्रक्रिया किशोरावस्था के बाद साधारणतया स्वतःचालित बन जाती है।

3.7 सामाजीकरण के अभिकरण

सामाजीकरण की प्रक्रिया में अनेक प्राथमिक संस्थाओं जैसे, परिवार, पडोस, मित्रो का समूह, विवाह एवं द्वितीयक समूह जैसे- विद्यालय, धार्मिक, आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक एवं व्यवसायिक समूह आदि का योगदान होता है। किम्बाल यंग के अनुसार समाज में समाजीकरण के विभिन्न अभिकरणों में परिवार, पडोस,

सम्बन्धी प्रारम्भिक समूहों की सदस्यतार तथा बाद में द्वितीयक समूहों की सदस्यता मुख्य है। सामाजीकरण की प्रमुख समस्यायें निम्नलिखित है।

1. परिवार

परिवार समाज की एक प्राथमिक संस्था है। परिवार में पालन-पोषण की प्रक्रिया के दौरान सामाजीकरण की शुरूआत होती है। परिवार का प्रभाव, मूल व्यक्तित्व की संरचना को निर्मित करता है। बालक का समाज के साथ व्यवस्थापन परिवार के प्रशिक्षण पर ही निर्भर है। परिवार में पिता साधक नेतृत्व और माता भावनात्मक नेतृत्व प्रदान करती है। परिवार में भाषा का प्रयोग, आदर्श, मूल्य, आज्ञा का पालन, नैतिकता आदि विशेषताओं को सीखता है।

2. मित्र समूह

सामाजिक दृष्टि से बच्चे के लिए मित्रो का समूह महत्वपूर्ण प्राथमिक समूह है। परिवार के बाद वह अपने खेल के साथियों के सम्पर्क में आता है। जो कि उसके हम उम्र होते है। प्रत्येक बच्चे की परिवारिक पृष्ठभूमि और प्रभाव एक-दूसरे से भिन्न होता है। जिसके फलस्वरूप बच्चे एक दूसरे से प्रभावित होते है।

3. पड़ोस

सामाजीकरण में परिवार के बाद पडोस का मुख्य स्थान है। बच्चा जैसे-जैसे बडा होता है। उसके सम्पर्क का क्षेत्र ''पडोस'' में बढ़ने लगता है। उसकी पडोसियों के साथ अन्तःक्रिया बढ़ जाती है। जिसके फलस्वरूप वह उनके व्यवहार का अनुकरण करता है।

4. नातेदारी समूह एवं विवाह

इस समूह में रक्त विवाह से सम्बन्धित सभी रिश्तेदार आते है। इन सभी सम्बन्धियों के सम्पर्क से व्यक्ति कुछ न कुछ सीखता है। इन सभी के प्रति उसे भिन्न-भिन्न प्रकार की भूमिकायें निभानी होती है। कहीं पर सम्बन्ध प्रगाड होते है। कहीं पर सम्बन्धों में एक नियमित दूरी बनायी जाती है।

विवाह के पश्चात् लडके एवं लडकी को नये दायित्वो का निर्वाह करना पड़ता है। तथा दम्पत्ति को आपस में भी सहचर्य का विकास करना पड़ता है।

द्वितीयक संस्थायें

उपर्युक्त प्राथमिक संस्थओं के अतिरिक्त द्वितीयक संस्थायें भी सामाजीकरण में महत्तवपूर्ण भूमिका निभाती है। जो कि निम्नलिखित है।

1. शैक्षिक संस्थायें

इसके अन्र्तगत हम स्कूल, कालेज, विश्वविद्यालय सभी को शामिल करते है। ये सभी संस्थायें समाजीकरण में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते है। शिक्षक का व्यक्तित्व तथा अनुशासन बच्चों को प्रभावित करता है। अध्ययन के दौरान उसकी मानसिक क्षमता का विकास होता है। तथा नवीन ज्ञान अर्जित करता है। इस प्रकार शिक्षण संस्थायें व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

2. राजनीतिक संस्थायें

व्यक्ति के सामाजीकरण में राजनीतिक संस्थायें भी अहम रोल निभाती है। इन संस्थाओं के द्वारा व्यक्ति को आत्म बोध होता है। प्रजातन्त्र और तानाशाही में विभिन्न प्रकार का समाजीकरण होता है। तानाशाही सरकार में जीवन में असुरक्षा कम होती है। जिसके स्वाभाविक विकास में बाधा पडती है। इसके विपरीत प्रजातन्त्रीय राज्य में सरकार लोगों की भलाई के लिए कार्य करती है। इसमें स्वाभाविक रूप से विकास के अवसर प्राप्त होते है।

3. आर्थिक संस्थायें

इन संस्थाओं के द्वारा व्यक्ति अपने जीवन के आर्थिक रूप से समर्थ बनाता है। इनके माध्यम से व्यक्ति व्यवसायिक संघों से परिचित होता है। व्यक्ति में सहयोग, प्रतिस्पर्धा, समायोजन के भाव पैदा होते है। ममम्र्य एव वेबलिन के अनुसार आर्थिक संस्थायें ही व्यक्ति के जीवन और सामाजिक ढांचे को निंधारित करती है।

4. धार्मिक संस्थायें

व्यक्ति के जीवन पर धर्म का गहरा प्रभाव होता है। जिसके कारण नैतिकता तथा अन्य गुणों को ग्रहण करता है। नैतिक गुणों के विकास में धर्म का अहम योगदान होता है।

5. सांस्कृतिक संस्थायें

आधुनिक युग में अनेक सांस्कृतिक संस्थाओं का जन्म हुआ जैसे संगीत अकादमी, नाटक अकादमी, इत्यादि ये संस्थायें व्यक्ति को अपनी संस्कृति से परिचित कराती है। जिसके द्वारा व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास होता है

3.8 सारांश

प्रस्तुत इकाई में समाजीकरण के अर्थ, परिभाषा तथा अवधारणा का अध्ययन किया। समाजीकरण की विशेषताओं तथा उद्देश्यों के बारे में जानकारी प्राप्त की। तत्पश्चात् समाजीकरण की प्रक्रिया का अध्ययन किया। जिसमें मौलिक अवस्था, शैशव अवस्था तथा किशोरावस्था का अध्ययन किया। इसके पश्चात् समाजीकरण के अभिकरण के विषय में ज्ञान प्राप्त किया।

3.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. सामाजीकरण क्या है ? परिभाषित कीजिए।
2. सामाजकीरण की विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।
3. सामाजीकरण के उद्देश्यों की चर्चा कीजिए।
4. सामाजीकरण की प्रक्रिया से आप क्या समझते है ? उल्लेख कीजिए।
5. सामाजीकरण के अभिकरण पर संक्षिप्त व्याख्या कीजिए।

3.9 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. शर्मा, के. एल. (2011) सामाजिक स्तरीकरण, रावत पब्लिकेशन्सः जयपुर

2. राम, एस. पी. (2010) भारतीय सामाजिक समस्याएं: अर्जुन पब्लिशिंग हाउस: नई दिल्ली

3. सिंह, डी. के., पालीवाल, एस एवं मिश्र, आर. (2010) मानव समाजः संगठन एवम् विघटन के मूल तत्वः न्यू रा ॅयल बुक कम्पनीः लखन

4. सिंह, ए. के. (2009) उच्चतर सामान्य मनोविज्ञान, मोतीलाल बनारसीदास: नई दिल्ली

5. सिंह एस. के. (2010) जाति व्यवस्था: निरंतरता एवं परिवर्तन, रावत पब्लिकेशनः जयपुर

इकाई-4

सामाजिक नियन्त्रण

इकाई की रूपरेखा -

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 सामाजिक नियन्त्रण की अवधारणा

4.3 सामाजिक नियंत्रण का अर्थ एवं परिभाषा

4.4 सामाजिक नियन्त्रण के प्रकार

4.5 सामाजिक नियन्त्रण के साधन और संस्थायें

4.6 सारांश

4.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

4.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

4.0 उद्देश्य

प्रस्ततु इकाई को पढ़ने के उपरांत आप-

1. सामाजिक नियंत्रण की अवधारणा को समझ सकेंगे। सामाजिक नियंत्रण के अर्थ एवं परिभाषा का अध्ययन कर सकेंगे।
2. सामाजिक नियंत्रण के प्रकार का वर्णन कर सकेंगे।
3. सामाजिक नियंत्रण के साधन एवं संस्थाओं के विषय को समझ सकेंगे।
4. औपचारिक तथा अनौपचारिक नियंत्रण, साकारात्मक एवं नकारात्मक नियंत्रण, संगठित और असंगठित नियंत्रण के बारे में समझ सकेंगे।

4.1 प्रस्तावना

प्रस्ततु इकाई में सामाजिक नियंत्रण के बारे में वर्णन किया गया है। सामाजिक नियंत्रण उन साधनों की व्यवस्था है जिसमें संकेत, आग्रह, अवरोध और शासन व शारीरिक शक्ति भी सम्मिलित है तथा जिसके द्वारा एक समाज उस समूह के व्यवहार को एक मान्य स्तर तक लाता है या जिसके माध्यम से एक समूह अपने सदस्यों के व्यवहार को मान्य नियमों के अनुरूप मोड़ता है। सामाजिक नियंत्रण उस ढंग से है जिसमें सम्पूर्ण व्यवस्था में एकता बनी रहती है तथा जिसके द्वारा यह व्यवस्था एक परिवर्तनशील संतुलन के रूप में कार्य करती है।

4.2 सामाजिक नियन्त्रण की अवधारणा

सामाजिक नियन्त्रण के द्वारा व्यक्तियों के व्यवहारों को नियंत्रित किया जाता हैं। उन्हें सामाजिक प्रतिमानों के अनुरूप बनाया जाता है। तथा उनमें सन्तुलन स्थापित किया जाता है। सामाजिक नियन्त्रण से तात्पर्य सामाजिक व्यवस्था की एकता और स्थिरता से है। सामाजिक नियन्त्रण दो शब्दों से मिलकर बना है। सामाजिक$नियन्त्रण जिसका तात्पर्य ऐसी व्यवस्था से है। जिसमें व्यक्ति विकास करता है, आवश्यकताओं की पूर्ति करता है, एवं अन्तःक्रिया करता है, जिससे समायोजन सम्भव होता है। इसके साथ-साथ बेहतर समायोजनन के लिए व्यक्ति एवं संस्था को उत्साहित करना। सामाजिक नियन्त्रण का सम्बन्ध उत्पन्न समस्या के सैद्धान्तिक एवं व्यवहारिक पक्ष से होता है। इसके सम्बन्ध में विभिन्न विद्धानों ने परिभाषायें दी हैं। जो निम्नलिखित हैं:

4.3 सामाजिक नियंत्रण का अर्थ एवं परिभाषा

सामाजिक नियंत्रण सामाजिक संरचना की स्थिरता के लिए अत्यन्त आवश्यक है। समाज में विघटनात्मक तत्व भी विद्यमान होते है। अगर इन तत्वों पर नियन्त्रण नहीं रहेगा तो समाज में अराजकता व्याप्त हो सकती है। ऐसी स्थिति में सामाजिक नियन्त्रण के द्वारा सन्तुलन स्थापित किया जाता है और समाज को उन्नति एवं प्रगति के अवसर प्राप्त होते है।

गिलिन एवं गिलिन के अनुसार, ''सामाजिक नियन्त्रण उन साधनों की व्यवस्था है जिनमें संकेत, आग्रह, अवरोध और शासन व शारीरिक शक्ति भी सम्मिलित है। तथा जिसके द्वारा एक समाज उस समूह के व्यवहार को एक मान्य स्तर तक लाता है। या जिसके माध्यम से एक समूह अपने सदस्यों के व्यवहार को मान्य नियमों के अनुरूप मोड़ता है।

मैकाइवर तथा पेज के अनुसार, ''सामाजिक नियन्त्रण का अर्थ उस ढंग से है जिसमें सम्पूर्ण व्यवस्था में एकता बनी रहती है तथा जिसके द्वारा यह व्यवस्था एक परिवर्तनशील संतुलन के रूप में कार्य करती है ।

रास के अनुसार, ''सामाजिक नियन्त्रण का तात्पर्य उन सभी शक्तियों से है। जिनके द्वारा समुदाय व्यक्ति को अपने अनुरूप बनाता है।

आगबर्न तथा निमकाफ, ''दबाव का वह प्रतिमान, जिसे समाज के द्वारा व्यवस्था बनाये रखने और नियमों को बनाये रखने के उपायोग में लाया जाता है। सामाजिक नियन्त्रण कहा जाता हैं।

उपयुक्त परिभाषाओं के आधार पर हम कह सकते है कि सामाजिक नियन्त्रण के द्वारा समाज को नियंत्रित किया जाता है। जिससे परिणाम स्वरूप समाज में आदर्श स्थापित होते है समाज को व्यवस्थित बनाने के लिए समूहों एवं व्यक्तियों का व्यवहार नियन्त्रित किया जाता हैं तथा समाज द्वारा बनाये गये नियमों का अनुसरण करना पड़ता हैं।

4.4 सामाजिक नियन्त्रण के प्रकार

समाज में सामाजिक नियन्त्रण की अनेक विधियाँ है। जिसके द्वारा व्यक्तियों के व्यवहार को नियन्त्रित किया जाता है। सामाजिक नियन्त्रण के प्रमुख प्रकार निम्नलिखित हैं

1. चेतन व अचेतन नियन्त्रण

कुले ने सामाजिक नियन्त्रण को चेतन व अचेतन दो भागों में बाँटा है। व्यक्ति के जीवन में कुछ व्यवहार ऐसे होते हैं। जिनको करने में विशेष सावधानी बरतते है। यह ध्यान रखते है। कि कहीं कोई किसी प्रकार की गलती न हो जायें ऐसे व्यवहार को हम चेतन व्यवहार कहते है। इसके विपरीत कुछ व्यवहार ऐसे होते हैं। जो व्यक्ति के व्यक्तित्व में इस प्रकार समाहित हो जाते हैं। कि वह व्यक्तित्व का अंग लगता है। उनका प्रभाव मन मस्तिष्क पर स्थायी प्रभाव होता है। उन व्यवहारों को करने के लिए बहुत विचार नहीं करना पड़ता बल्कि वह स्वतः वैसा ही आचरण करने लगते हैं। ऐसे व्यवहार को अचेतन व्यवहार कहते है।

2. प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष नियन्त्रण

सामाजिक नियन्त्रण की इस पद्धति को कार्ल मानहीम ने प्रस्तुत किया प्रत्यक्ष नियन्त्रण के अन्तर्गत व्यक्ति के समीप रहने वाले व्यक्तियों द्वारा होता है जैसे- माता-पिता, पड़ोसी, मित्र इत्यादि। इस प्रकार का नियन्त्रण स्थायी होता है तथा उसका गहरा प्रभाव पड़ता है। क्योंकि इन्हीं के माध्यम से व्यक्ति का सामाजीकरण होता है।

अप्रत्यक्ष नियन्त्रण के अन्तर्गत व्यक्ति के सूक्ष्म व्यवहारों को नियन्त्रित किया जाता है तथा व्यक्ति के चारों और संचालित होता है। प्रारम्भ में व्यक्ति चेतन रूप से नियन्त्रित होता है। परन्तु बाद में यह व्यक्तित्व का हिस्सा बन जाता है।

3. संगठित और असंगठित नियन्त्रण

गुरूविच ने इस प्रकार को प्रस्तुत करते हुए इसके दो स्वरूप प्रस्तुत किये संगठित नियन्त्रण और असंगठित नियन्त्रण। संगठित नियन्त्रण के तहत संस्थाओं और नियमों के द्वारा व्यक्तियों के व्यवहार को नियन्त्रित किया जाता है। इसमें व्यक्तियों के कर्तव्यों एवं व्यवहारों को परिभाषित किया जाता है। जबकि असंगठित नियन्त्रण में व्यक्ति के व्यवहार को संस्कृति और प्रथाओं के माध्यम से नियन्त्रित किया जाता है। यह व्यक्ति की दिनचर्या को सबसे ज्यादा प्रभावित करता है।

4. सकारात्मक और नकारात्मक नियन्त्रण

सकारात्मक और नकारात्मक नियन्त्रण इस पर सिम्बाल ने विशेष जोर दिया है। सकारात्मक नियन्त्रण में व्यक्ति को समाजोपयोगी व्यवहार करने पर पुरुस्कृत करके उत्साहित किया जाता है। जिससे कि व्यक्ति लगातार उच्चीकृत व्यवहार करके उचित समायोजन स्थापित कर सके। नकारत्मक आचरण को दण्डित करके नियन्त्रित किया जा सकता है। जिससे वह समाज विरोधी आचरण छोड़कर समाज के अनुकूल बन सके।

5 औपचारिक व अनौपचारिक नियन्त्रण

औपचारिक सामाजिक नियन्त्रण का तात्पर्य उस नियन्त्रण से है। जिसमें सरकार सेे संस्थाओं द्वारा समाज के सदस्यों के व्यवहार को नियन्त्रित करने हेतु नियमों को लागू किया जाता है। इन नियमों का पालन करने के लिए व्यक्ति बाध्य होता है। इसके अन्तर्गत इनका उल्लंघन करने पर दण्ड की व्यवस्था होती है तथा उचित व्यवहार करने पर प्रोत्साहित किया जाता है। आधुनिक समाज में औपचारिक नियन्त्रण प्रभावपूर्ण होता है। इसको लागू करने में कानून, पुलिस, अदालत आदि का प्रयोग किया जाता है।

अनौपचारिक नियन्त्रण के अन्तर्गत, प्रथाओं, परम्पराओं, जनरीतियों, धर्म, नैतिकता, इत्यादि के माध्यम से व्यक्तियों के व्यवहारों को नियन्त्रित किया जाता है। इस नियन्त्रण में लोग कल्याण और नैतिकता की प्रधानता होती है।

4.5 सामाजिक नियन्त्रण के साधन और संस्थायें

समाज में सामाजिक नियन्त्रण को स्थापित करने के लिए विभिन्न प्रकार के साधनों एवं संस्थाओं का उपयोग किया जाता है। सामाजिक नियन्त्रण के तहत परिवार, राज्य, धार्मिक संस्थायें, शैक्षिणक संस्थायें तथा विभिन्न प्रकार के संगठन आते हैं। जिनके माध्यम से उपलब्ध साधनों जैसे- प्रथाओं, परम्पराओं, नियमों, जनमत, प्रचार आदि के द्वारा सामाजिक नियन्त्रण स्थापित किया जाता है। सामाजिक नियन्त्रण के लिए उपयोग में लाये जाने वाले साधन और संस्थायें निम्नलिखित हैं:

अ. परिवार

परिवार सामाजिक नियन्त्रण की प्राथमिक और सर्वोपरि संस्था है। परिवार के द्वारा व्यक्ति का सामाजीकरण होता है। जिसके तहत व्यक्ति मूल्यों, आदर्शों एवं व्यवहार के प्रतिमानों से आत्मसात करता है। जिससे सामाजिक नियन्त्रण बना रहता है। परिवार के सदस्य, माता-पिता, पति-पत्नी, भाई-बहन, बच्चे इत्यादि प्रशंसा, निन्दा, अपमान, उपेक्षा के द्वारा व्यक्ति के व्यवहार को नियन्त्रित किया जाता है। व्यक्ति किसी भी स्थिति में खुद को परिवार से प्रथक नहीं कर सकता है। अतः परिवार के द्वारा व्यक्ति पर अकुंश रखकर उस पर नियन्त्रण स्थापित किया जा सकता है।

ब. राज्य

प्राचीन समय से ही राज्य सामाजिक नियन्त्रण को स्थापित करने में महत्वपूर्ण रहा है। औद्योगीकरण, नगरीकरण और व्यक्तिवाद के प्रसार ने सामाजिक नियन्त्रण में राज्य की उपयोगिता को बढ़ाया है। राज्य शासन के विभिन्न आयामों के द्वारा नागरिकों के अधिकारों एवं कर्तव्यों को व्यवस्थित करता है। राज्य पुलिस, न्यायालय के द्वारा समाज में शान्ति व्यवस्था कायम रखता है एवं कानूनों के माध्यम से समाज में समानता को बनाये रखता है। कल्याणकारी योजनाओं के द्वारा समाज में समानता के अवसर पैदा करता है। इस प्रकार हम कह सकते है राज्य एक ऐसी शक्ति ही जिसके द्वारा समाज को नियन्त्रित किया जाता है।

स. धार्मिक संस्थायें

धर्म का तात्पर्य ऐसी अलौकिक मानवीय शक्ति से है जिसे हम ईश्वर या परम सत्ता कहते हैं। जिस पर व्यक्ति विश्वास करता है। जिसका आधार भय, प्रेम, श्रद्धा होता है। जिनकी अभिव्यक्ति विभिन्न प्रकार की प्रार्थनाओं के माध्यम से होती है। धार्मिक संस्थायें धर्म का प्रतिनिधित्व करती हैं। उनके माध्यम से मानव के व्यवहार पर नियन्त्रण स्थापित किया जाता है। मानव में सदगुणों का विकास होता है। धर्म व्यक्ति के अन्दर सुरक्षा की भावना पैदा करता है। जिससे उसे मनोवैज्ञानिक सन्तोष प्राप्त होता है। धर्म अनावश्यक परिवर्तनों को अमान्य करके समाज में संतुलन की स्थिति को बनाये रखने में मदद करता है। धार्मिक संस्थायें समाज में एकीकरण स्थापित करके विभिन्न परिस्थितियों से मानव का सामन्जस्य कराकर नियन्त्रण बनाये रखती है।

द. जनरीतियाँ

जनरीतियाँ समाज में स्वीकृत व्यवहार होते हैं। ये मानव के कल्याण के लिए होती हैं। इनके निरन्तर प्रयोग से ये विकसित रूप धारण कर लेती हैं। व्यक्ति इनका पालन अचेतन रूप से करता है। इन जनरीतियों का उल्लंघन व्यक्ति के व्यवहार से सम्बन्धित होती है जिससे सामाजिक नियन्त्रण स्थापित होता है।

य. लोकाचार

लोकाचार के अन्तर्गत उचित एवं अनुचित का भाव होता है। ये व्यक्ति को सकारात्मक कार्य करने का निर्देश देते हैं एवं नकारात्मक व्यवहार के प्रति हतोत्साहित करते हैं। लोकाचार अनौपचारिक एवं असंगठित नियन्त्रण का साधन है। इनका उल्लंघन आलोचना का सामना करना पड़ता हैं लोकाचार का प्रभाव कानूनों से भी अधिक होता है। क्योंकि यह व्यक्ति को अचेतन रूप से प्रभावित करता है।

र. प्रथायें

जनरीतियाँ एवं लोकाचार व्यवहार के माध्यम से पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तान्तरित होते रहते हैं। फलस्वरूप वे प्रथाओं का रूप ले लेती हैं और समाज इनका पालन करता है। प्रथायें इतनी सुदृढ़ हो जाती हैं कि उन्हें बिना सोच-विचार के ही मान्यता दे दी जाती है। सामाजिक संस्थायें इन प्रथाओं के माध्यम से समाज का नियन्त्रण करती हैं। प्रथायें सामाजिक नियन्त्रण का अनौपचारिक, असंगठित एवं सशक्त साधन हैं, जिनके द्वारा व्यक्तिगत एवं सामूहिक व्यवहारों को नियन्त्रित किया जाता है।

ल. जनमत

आधुनिक समाज में जनमत व्यक्तियों के व्यवहारों को नियन्त्रित करने का महत्वपूर्ण साधन है। वर्तमान समय में जनमत सरकार, संघों, राज्य, सामाजिक व्यवहार एवं संस्थाओं पर नियन्त्रण रखने वाली एक महान सामाजिक शक्ति है। आदि काल में भी जनमत ने सामाजिक नियन्त्रण बनाये रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। प्रजातन्त्र में जनमत की अवहेलना करना असम्भव है। इसलिए जनमत के द्वारा राज्य एवं उसकी नीतियों, व्यक्तियों तथा समाज पर नियन्त्रण स्थापित किया जाता है।

व. प्रचार

आधुनिक युग में प्रचार सामाजिक नियन्त्रण का एक प्रमुख साधन है। व्यक्ति एवं समूह के व्यवहार को प्रचार द्वारा नियन्त्रित किया जाता है। प्रचार के विभिन्न माध्यम जैसे- अखबार, पत्रिकायें, रेडियो, टेलीविजन, फिल्म, प्रदर्शनी, रैली, मेला, सभा, समारोह प्रतियोगिता, खेल इत्यादि के माध्यम से सकारात्मक विचारों का प्रचार-प्रसार किया जाता है। विभिन्न विद्धानों, चिन्तकांे, धार्मिक नेताओं, सामाजिक नेताओं के विचारों का प्रचार-प्रसार समाज में एकरूपता एवं सदशयता उत्पन्न करता है। जिसके फलस्वरूप सकारात्मक व्यवहार उत्पन्न होता है।

उपयुक्त विवरण से स्पष्ट है कि सामाजिक नियन्त्रण को स्थापित करने में साधन एवं संस्थायें अपनी-अपनी भूमिकाओं को निर्धारित करके उनको लागू करती है। जिसके फलस्वरूप समाज में सामाजिक नियन्त्रण स्थापित होता है।

सामाजिक नियन्त्रण के द्वारा व्यक्तियों के व्यवहारों को नियंत्रित किया जाता हैं। उन्हें सामाजिक प्रतिमानों के अनुरूप बनाया जाता है। तथा उनमें सन्तुलन स्थापित किया जाता है

4.5 सारांश

प्रस्तुत इकाई में सामाजिक नियंत्रण के विषय में अध्ययन किया। सामाजिक नियंत्रण के अर्थ एवं परिभाषा के विषय में ज्ञान प्राप्त किया। सामाजिक नियंत्रण की विशेषताओं तथा सामाजिक नियंत्रण के प्रकार के विषय में ज्ञान प्राप्त किया। तत्पश्चात् सामाजिक नियंत्रण की संस्थाओं के विषय में अध्ययन किया।

4.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. सामाजिक नियंत्रण की अवधारणा को समझाइये।
2. सामाजिक नियंत्रण का अर्थ एवं परिभाषाओं का वर्णन कीजिए।
3. सामाजिक नियंत्रण के प्रकारों को स्पष्ट कीजिए।
4. सामाजिक नियंत्रण के साधन व संस्थाओं का वर्णन कीजिए।
5. सामाजिक नियंत्रण के साधनों एवं संस्थाओं में अंतर स्पष्ट कीजिए।

4.7 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. मिश्र, पी.डी. (2003) व्यक्ति और समाज, न्यू रा ॅयल बुक कम्पनी: लखनऊ
2. मिश्र, पी.डी. एवं मिश्रा बी. (2004) सोशल वर्क प्रोफेशन इन इण्डिया, न्यू रा ॅयल बुक कम्पनी: लखनऊ
3. महाजन, एस. (2010) सामाजिक समस्याएं, अर्जुन पब्लिसिंग हाउसः नई दिल्ली
4. यादव आर. (2005) सामाजिक समस्याएं, अर्जुन पब्लिशिंग हाउसः नई दिल्ली

इकाई-5

सामाजिक प्रस्थिति

इकाई की रूपरेखा -

5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 भारतीय समाज की संरचना

5.3 सामाजिक प्रस्थिति

5.4 प्रस्थिति

5.5 प्रस्थितियों के प्रकार

5.6 प्रदत्त व अर्जित प्रस्थिति में सम्बन्ध

5.7 सारांश

5.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

5.9 सन्दर्भ ग्रन्थ

5.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के पश्चात् आप-

1.भारतीय समाज की संरचना के अर्थ एवं परिभाषा का अध्ययन कर सकेंगे।

2. सामाजिक प्रस्थिति की परिभाषा तथा प्रकार को समझ सकेंगे।

3.प्रदत्त तथा अर्जित प्रस्थिति के अर्थ से अवगत हो सकेंगे |

5.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में भारतीय समाज की संरचना के विषय में बताया गया है। सामाजिक संरचना किसी सामाजिक तंत्र में मूल अवयवों के सुसंगठित सम्बंधों से है। फिर भी अवयवों के आपसी संबंध एक समाज से दूसरे समाज से भिन्न होते हैं। यह एक ऐसा पद है जिसका प्रयोग परस्पर संबंधित संस्थानों, संगठनों तथा सामाजिक मानदंडो की एक विशिष्ट व्यवस्था के साथ-साथ किसी समूह में प्रत्येक सदस्य द्वारा ग्रहण की गई परिस्थितियों तथा भूमिकाओं की विशिष्ट क्रमबद्धता के लिए किया जाता है। किसी सामाजिक संरचना के सबसे महत्वपूर्ण घटक हैं प्रस्थिति, भूमिकाएं, समूह तथा संस्थाएं।

5.2 भारतीय समाज की संरचना

सामाजिक संरचना शब्द का प्रयोग समाजशास्त्र में बारम्बार होता है, परन्तु जितना इसे समझने या समझाने पर बल दिया जाना चाहिए था, उतना कभी नहीं दिया गया। इसलिए आदतन लोग इस शब्द का प्रयोग कर लेते हैं, परन्तु न तो इसके अर्थ को लेकर स्पष्ट रहते हैं और न ही व्यवहार को लेकर। समाज अमूर्त है। इसे हम देख-दिखा या महसूस नहीं कर सकते। ऐसे में स्पष्ट है कि इसकी संरचना को देखा-दिखाया नहीं जा सकता। यह भी अनुभूति या बोध का विषय है।

सामाजिक संबंधों का परीक्षण प्रस्थिति एवं सामाजिक भूमिकाओं के रूप में किया जाता है। ये दोनों मिलकर उसी प्रकार सामाजिक संरचना का निर्माण करते हैं जैसे की नींव, दीवारें, छत, दरवाजे, खिड़कियां तथा फर्नीचर एक भवन की संरचना बनाते हैं। यद्यपि किसी विशेष भवन का लक्षण जैसे बंगला या एक बहुमंजिली इमारत, या एक झोपड़ी या एक नींव का घर आदि यह सब उसके अवयवों के निश्चित प्रकार व उनके आपसी संबंधों पर निर्भर करता है। सामाजिक संरचना का अर्थ है ''विभिन्न घटकों अथवा अवयवों के एक-दूसरे के संबंधों का सुसंगठित रूप से व्यवस्थापन''। सामाजिक संरचना से तात्पर्य है- i) प्रस्थिति व भूमिकाओं के एक-दूसरे के अंतःसंबंधों का पैटर्न (जो किसी समाज अथवा समूह में किसी समय विशेष पर पाया जाता है, (ii) जिसमें अपेक्षाकृत स्थाई सामाजिक संबंध शामिल हैं, (iii) जिसमें अधिकारों व दायित्वों का संगठित पैटर्न हैं (व्यक्तियों, समूहों का एक अंतःक्रिया के तंत्र में) तथा (iv) जिसका सामाजिक मानदंडों व सामाजिक संस्थाओं के रूप में विश्लेषण हुआ है।

इयान राबर्टसन के अनुसार सरल शब्दों में सामाजिक संरचना का तात्पर्य ''किसी सामाजिक तंत्र में मूल अवयवों के सुसंगठित संबंधों से है।'' फिर भी अवयवों के आपसी संबंध एक समाज से दूसरे समाज में भिन्न होते हैं। टालकट पारसन्स ने इस परिभाषित करते हुए लिखा है कि ''यह एक ऐसा पद है जिसका प्रयोग परस्पर संबंधित संस्थानों, संगठनों तथा सामाजिक मानदंडों की एक विशिष्ट व्यवस्था के साथ -साथ किसी समूह में प्रत्येक सदस्य द्वारा ग्रहण की गई प्रस्थितियों तथा भूमिकाओं की विशिष्ट क्रमबद्धता के लिए किया जाता है।'' किसी सामाजिक संरचना के सबसे महत्वपूर्ण घटक हैं प्रस्थिति, भूमिकाएं, समूह तथा संस्थाएं।

5.3 सामाजिक प्रस्थिति

प्रायः यह सुना जाता है कि अमुक व्यक्ति की सामाजिक स्थिति अच्छी है, अमुक की सामाजिक स्थिति खराब है, स्त्रियों की सामाजिक स्थिति में सुधार हो रहा है, हिन्दू समाज में ब्राह्मणों की सामाजिक स्थिति सर्वोच्च है आदि। आखिर यह सामाजिक स्थिति क्या है? जैसा कि नाम से स्पष्ट होता है कि यह व्यक्ति की समाज में स्थिति है और समाज सामाजिक सम्बन्धों की व्यवस्था है। सामाजिक सम्बन्धों के लिए अन्तः स्थिति एवं कार्यों की व्यवस्था आवश्यक है। सामाजिक सम्बन्ध कैसे भी हो, वे एक सामाजिक परिस्थिति में होते हैं।

सामाजिक स्थिति के अन्दर तीन तत्व आते हैं-(1) कर्ता (2) उद्देश्य (3) सामाजिक नियम

कर्ता वह व्यक्ति होता है जो किसी उद्देश्य के लिए सामाजकि नियमों के अनुसार अन्तःक्रिया करता है। अतः दो कर्ताओं में मनाःक्रिया अपनी-अपनी प्रस्थिति से जुड़ी हुई भूमिकाओं के निर्वहन से होती है।

5.4 स्थिति (प्रस्थिति): परिभाषाएँ

प्रस्थिति के सम्बोध को स्पष्ट रूप से समझने के लिए उसकी परिभाषाओं को जानना उपयोगी होगा। कुछ विचारकों ने प्रस्थिति को निम्नलिखित प्रकार से पारिभाषित किया है-

मैकाइवर एवं पेज ने लिखा है, ''स्थिति वह सामाजिक पद है, जोकि रखने वाले के लिए उसके व्यक्तिगत गुणों या सामाजिक सेवा के अतिरिक्त आदर, प्रतिष्ठा, तथा प्रभाव की कुछ मात्रा निश्चित होती है।''

किंग्सले डेविस ने सामान्य धारणा व्यक्त करते लिखा है, ''प्रस्थिति किसी भी सामान्य संस्थात्मक व्यवस्था में किसी पद की सूचक है, ऐसा पद जो समाज द्वारा स्वीकृत है और जिसका निर्माण स्वतः ही हुआ है और जो जनरीतियों व रूढ़ियों से सम्बद्ध है।''

आगबर्न एवं निमकाफ के अनुसार, ''स्थिति की सबसे सरल परिभाषा यह है कि ''यह समूह में व्यक्ति के स्थान या पद का प्रतिनिधित्व करती है।''

एलियट एवं मैरिल ने लिखा है कि, ''प्रस्थिति व्यक्ति की वह स्थिति है जिसे व्यक्ति समूह में अपनी आयु, लिंग, परिवार, वर्ग, व्यवसाय, विवाह तथा प्रयत्नों के फलस्वरूप प्राप्त करता है।''

इन परिभाषाओं द्वारा यह कहा जा सकता है कि एक व्यक्ति समाज द्वारा मान्यता प्राप्त पदों के आधार पर अपना कार्य करता है, उन्हीं आधारों पर समाज में उसे एक विशेष पद प्राप्त होता है। इस पद को उस व्यक्ति की प्रस्थिति कहा जाता है।

5.5 प्रस्थितियों के प्रकार

हम देखते हैं कि समाज में प्रस्थितियों का वितरण दो आधारों पर होता है, एक ओर हमें अनेक प्रस्थितियां जन्म के साथ प्राप्त होती हैं। इसके विपरीत कुछ प्रस्थितियाँ जन्म के आधार पर निश्चित न होकर योग्यता और गुणों के आधार पर निश्चित होती हैं जैसे प्रोफेसर, डाक्टर, इंजीनियर आदि। इस आधार पर लिन्टन ने दो प्रकार की प्रस्थितियों का उल्लेख किया है-

1. प्रदत्त प्रस्थिति
2. अर्जित प्रस्थिति

5.5.1 प्रदत्त प्रस्थिति

जिस स्थिति के लिए व्यक्ति को कोई प्रयत्न न करना पड़े और जो स्थिति उसे जन्म के आधार पर प्राप्त हो जाती है उसे प्रदत्त प्रस्थिति कहते हैं। अतः किसी भी व्यक्ति को प्रदत्त प्रस्थिति सामाजिक व्यवस्था द्वारा स्वयं निर्धारित की जाती है और अपरिवर्तित होती है। उदाहरण के लिए सामन्तवादी व्यवस्था में-एक शाही परिवार में जन्म लेने वाले बालक/बालिका राजकुमार या राजकुमारी कहे जाते हैं। इसी प्रकार भारत में जाति व्यवस्था प्रदत्त प्रस्थिति का महत्वपूर्ण उदाहरण है। प्रदत्त प्रस्थिति व्यक्ति को जन्म लेने मात्र से ही प्राप्त होती है।

साधारणतया व्यक्ति को प्रदत्त प्रस्थिति निम्नलिखित चार आधारों पर प्राप्त होती है-

1. लिंग विभाजन - स्त्री-पुरुष
2. आयु भेद - बालक, युवा, प्रौढ़
3. नातेदारी - पुत्र, भाई, बहन आदि

4. सामाजिक कारक - श्वेत, काला इत्यादि

ये चार कारक व्यक्ति को जन्म से ही प्राप्त हो जाते हैं और उसकी प्रस्थिति को निर्धारित करते हैं।

1. लिंग विभाजन

संसार के सभी समाजों में देखने को मिलता है कि स्त्री व पुरुष की प्रस्थिति में भिन्नता पाई जाती है। लिंग विभाजन के कारण जन्म से ही दोनों को प्रस्थिति प्राप्त हो जाती है। स्त्री-पुरुष के कार्य और उनसे अपेक्षाएं भिन्न-भिन्न होती हैं। जैसे पितृ-सत्तात्मक समाज में पुरुषों की प्रस्थिति उच्च होती है। जबकि मातृ-सत्तात्मक समाज में स्त्रियों की प्रस्थिति पुरुषों की अपेक्षा उच्च होती है।

जैविकीय आधार पर यह माना जाता है कि पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियां अधिक कमजोर, भावुक, और सहज विश्वासी होती हैं। जन्म के पश्चात् ही यह निश्चित हो जाता है कि समाज में स्त्री व पुरुष को कौन-कौन से कार्य करने हैं। आॅगबर्न एवं निमकाफ ने लिखा है कि, सभी संस्कृतियों में पुरुषों एवं स्त्रियों को अलग-अलग रखा गया है। इसी के परिणामस्वरूप दोनों की आदत व मनोवृत्तियों में अन्तर पाया जाता है। स्त्री व पुरुष में शारीरिक भेदों के कारण सामाजिक अधिकारों एवं कार्यों का निर्धारण होता है। स्त्रियों को अपनी शारीरिक विशेषता के आधार पर ऐसे कार्य दिए जाते हैं जो शिशु जनन कार्य से मेल खाते हैं। प्रायः श्रम साध्य कार्य, साहसिक कार्य पुरुषों को करने होते हैं और घर संभालना, भोजन बनाना, सेवा करना आदि कार्य स्त्रियों को करने होते हैं। लैंगिक आधार पर सामाजिक भेद स्थाई नहीं हैं, ये एक समाज से दूसरे समाज में तथा एक समय से दूसरे समय में बदलते रहते हैं। कुछ समाजों में पुरुष घर पर रहते हैं तो कुछ में स्त्रियां। इस प्रकार कुछ समाजों में स्त्री की प्रस्थिति उच्च व पुरुष की निम्न होती हैं। जैसे नायर जनजाति में स्त्रियां पुरुषों की अपेक्षा अधिक मेहनत का कार्य करती हैं। स्पष्ट है कि लिंग भेद व्यक्ति की प्रदत्त प्रस्थिति का एक प्रमुख आधार है।

2. आयु भेद

आयु प्रदत्त प्रस्थिति का दूसरा महत्वपूर्ण आधार है। प्रत्येक व्यक्ति के जन्म से न केवल उसकी आयु ही निश्चित होती है बल्कि यह भी निश्चित हो जाता है कि वह किन लोगों से छोटा है और किन लोगों से बड़ा है। व्यक्ति जीवन में साधारणतया पांच आयुकालों से गुजरता है- शैश्वावस्था, बाल्यावस्था, किशोरावस्था, प्रौढ़ावस्था और वृद्धावस्था। इन पांचों अवस्थाओं में व्यक्ति की प्रस्थितियों व उससे सम्बन्धित कार्य अलग-अलग होते हैं। बड़ी उम्र के लोग छोटी उम्र के लोगों के लिए आदरणीय होते हैं। वे एक विशेष प्रकार का व्यवहार पाने के अधिकारी होते हैं। वैसे प्रत्येक समाज आयु भेद के अनुसार अपने सदस्यों को प्रस्थिति अवश्य प्रदान करता है, हाँ यह बात अलग है कि आयु को किसी समाज में अधिक महत्व दिया जाता है तो किसी में कम। जैसे आधुनिक समाज में योग्यता उम्र के अपेक्षा अधिक महत्व रखती है। परन्तु समान योग्यता और वरिष्ठता में उम्र वरिष्ठता का आधार होती है। प्राचीन चीन एवं जापान में आयु किसी भी पद को ग्रहण करने का प्रमुख आधार थी। इस प्रकार आयु प्रदत्त प्रस्थिति निर्धारण में काफी हद तक उत्तरदायी कही जा सकती है।

3. नातेदारी

नातेदारी सम्बन्धों का भी प्रदत्त प्रस्थिति निर्धारण में महत्वपूर्ण स्थान है। व्यक्ति के नातेदारी सम्बन्ध उसके जन्ममूलक परिवार और विवाह के परिवार के लोगों से होते हैं। समाज व्यक्ति को सामान्यता उसके माता-पिता और सहोदरों के साथ सम्बन्ध के आधार पर अर्जित प्रस्थिति प्रदान करता है। उसकी प्रस्थिति माता-पिता के समान ही होती है। यदि माता-पिता उच्च प्रस्थिति के हैं तो व्यक्ति की भी उच्च प्रस्थिति और यदि माता-पिता

निम्न प्रस्थिति तो व्यक्ति की प्रस्थिति निम्न हो जाती है। यद्यपि यह आवश्यक नहीं है कि व्यक्ति की प्रस्थिति सदैव माता-पिता की प्रस्थिति पर निर्भर करें परन्तु परिवार सामाजिक ढांचे की आधार शिला है। अतः सर्वप्रथम परिवार के आधार पर ही व्यक्ति को प्रस्थिति प्राप्त होती है। बाद में उसकी योग्यता व अयोग्यता पर भले ही निर्भर करें, लेकिन जन्म के समय समाज उसे एक निश्चित प्रस्थिति प्रदान अवश्य करता है। इसी प्रकार सहोदरी सम्बन्धों के कारण उसे अनेक प्रास्थितियाँ स्वतः ही प्राप्त हो जाती हैं जैसे भाई-बहन, चाचा, साला, मामा आदि। भारत की जाति व्यवस्था प्रदत्त प्रस्थिति का श्रेष्ठतम उदाहरण है, जो व्यक्ति के लिए आजीवन अपरिवर्तनीय है।

4. सामाजिक कारक

व्यक्ति के लिंग, आयु, नातेदारी सम्बन्ध ही केवल उसकी प्रदत्त प्रस्थिति का निर्धारण नहीं करते बल्कि अनेक ऐसे सामाजिक कारक हैं जो व्यक्ति की प्रदत्त प्रस्थिति का निर्धारण करते हैं-

(अ) प्रजाति भेद

यह नितान्त सामाजिक भेदभाव है। अमेरिका में श्वेत प्रजाति की तुलना में एक नीग्रो प्रजाति में जन्मे व्यक्ति को निम्न प्रस्थिति प्रदान की जाती है।

(ब) परिवार एवं जाति

भारत में जाति एवं परिवार व्यक्ति की प्रस्थिति को निर्धारित करने में आरोपक आधारों के रूप में अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इनके द्वारा प्रस्थिति का निर्धारण व्यापक अर्थ में सामाजिक कारक ही है।

(स) अन्य सामाजिक कारक

उपरोक्त दोनों कारको के अतिरिक्त अन्य सामाजिक कारक भी व्यक्ति की प्रस्थिति को जन्म से निर्धारण करने में आरोपक तत्वों के रूप में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं-

क. अवैध संतान, वैश्या पुत्र, को जन्म से ही नीची निगाह से देखा जाने लगता है।

ख. गोद लिए बच्चे और रक्त सन्तान को देखने का नजरिया अलग-अलग होना।

ग. तलाक-शुदा माता-पिता की सन्तानें सामान्य प्रस्थिति के अधिकारी नहीं रहते हैं।

इस प्रकार अलग-अलग समाजों की अपनी अलग-अलग मान्यताएं होती हैं जो व्यक्ति की प्रस्थिति का निर्धारण करती हैं।

5.5.2 अर्जित प्रस्थिति

सामाजिक स्थिति के उस रूप को जो व्यक्ति अपनी योग्यता, कुशलता एवं प्रयत्नों के द्वारा स्वयं प्राप्त करता है उसे अर्जित प्रस्थिति कहते हैं। समाज में अनेक प्रकार कार्य व पद होते हैं और इन्हें पाने के लिए विशेष योग्यता की जरूरत होती है। व्यक्ति उस पद को पाने के लिए वैयक्तिक प्रयत्न और अन्य समकक्ष लोगों से प्रतिस्पर्धा करता है। योग्यतम व्यक्ति उस पद को प्राप्त कर लेता है। एक शूद्र को पढ़ने लिखने और सामाजिक कार्यों के करने पर मिनिस्टर बनाया जाता है तो उसे यह उच्च स्थिति प्राप्त हुई है और वह उसकी अर्जित प्रस्थिति है। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति इंजीनियर, डाक्टर, प्राध्यापक या प्रशासनिक अधिकारी बनता है, तो यह उसका अर्जित पद होता है क्योंकि इन पदों के लिए योग्यता अर्जित करनी पड़ती है और प्रयास करने पड़ते हैं।

समाज में प्रत्येक व्यक्ति की योग्यता एक समान नहीं होती है। कोई अधिक योग्य होता है तो कोई कम योग्य। अर्जित प्रस्थिति अनेक योग्य व्यक्तियों के लिए खुली स्पर्धा होती है। समाज में अनेक ऐसे व्यक्ति होते हैं जो अपनी व्यक्तिगत योग्यता के आधार पर समाज में काफी आगे निकल जाते हैं, इसके विपरीत, कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जो जन्म के आधार पर प्राप्त पद पर भी कायम नहीं रह सकते और उन्हें समाज में निम्न पद स्वीकारना पड़ता है। अतः अर्जित प्रस्थिति योग्यता पर आधारित होती है तथा योग्यतम के आने से इसे खोने की सदैव आशंका रहती है। अर्जित प्रस्थिति के मुख्य आधार निम्नलिखित हैं-

1. सम्पत्ति (जागीरदार, जमीदार आदि)
2. व्यवसाय (डाक्टर, इंजीनियर आदि)
3. शिक्षा (कालेज, स्नातक, अशिक्षित आदि)
4. विशेषीकरण और श्रम विभाजन (फोरमैन, मैकेनिक आदि)
5. राजनीतिक अधिकार (प्रधानमंत्री, राष्ट्रपति आदि)
6. वैवाहिक सम्बन्ध (पति-पत्नी, बहनोई आदि)
7. उपलब्धि (गायक, अच्छा खिलाड़ी आदि)

5.6 प्रदत्त व अर्जित प्रस्थिति में सम्बन्ध

प्रत्येक समाज में दोनों प्रकार की प्रस्थितियाँ पाई जाती हैं। यह बात दूसरी है कि कौन सी प्रस्थिति अधिक प्रभावी है। इन दोनों प्रस्थितियों के स्वभाव में विपरीतता दिखती है परन्तु प्रकार्यात्मक दृष्टि से एक दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। जन्म से बालक का प्रदत्त प्रस्थिति के अनुसार समाजीकरण होता है तथा उसका यह प्रारम्भिक समाजीकरण ही उसकी अर्जित प्रस्थितियों को निर्धारित करता है।

इस प्रकार कुछ अर्जित प्रस्थितियाँ भी प्रदत्त प्रस्थिति से जुड़ी होती हैं, जिन्हें प्रदत्त प्रस्थिति के विपरीत जाकर प्राप्त नहीं किया जा सकता है। डेविस के अनुसार कुछ प्रथागत सीमाएं भी होती है जिनका प्रभाव अर्जन को सीमित कर देता है। सार रूप में यह कहा जा सकता है कि कोई भी प्रस्थिति सामान्यतः पूर्णरूप से प्रदत्त अथवा पूर्ण रूप से अर्जित नहीं हो सकती है। इनमें से एक मुख्य और दूसरी गौण हो सकती है।

भूमिका (Role)

साधारणतया 'भूमिका' अर्थात् 'रोल' का अर्थ किसी व्यक्ति के द्वारा किसी अन्य व्यक्ति के कार्यों की नकल करने से लिया जाता है। इस प्रकार प्रायः हम कहते हैं कि फिल्म में नायक का रोल अच्छा रहा या खलनायक का रोल अच्छा रहा। इससे यह अभिप्राय होता है कि नायक या खलनायक ने हमरी अपेक्षा के अनुरूप आचरणों को किया है। अतः साधारण अर्थ में हम 'रोल' का प्रयोग दूसरे का कार्य ग्रहण करने से लेते हैं।

कोई भी व्यक्ति किसी प्रस्थिति को प्राप्त करता है, उसके अनुसार ही उसका प्रत्याशित व्यवहार भी होता है, जिसे भूमिका कहा जाता है। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से भूमिका को प्रस्थिति का प्रकार्य माना जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि भूमिका किसी भी प्रस्थिति का व्यावहारिक पक्ष है। लिण्टन के अनुसार, ''यह प्रस्थिति का गत्यात्मक पहलू है। जिस प्रकार एक सिक्के के दो पहलू होते हैं और दोनों एक दूसरे से सम्बद्ध होते हैं, ठीक उसी प्रकार

भूमिका भी प्रस्थिति का दूसरा पहलू होती है। अतः भूमिका को प्रस्थिति से अलग करके नहीं देखा जा सकता है। व्यक्ति को प्रस्थिति के अनुसार ही व्यवहार, कर्तव्य एवं अधिकार प्रदान किए जाते हैं। चाहे वे प्रदत्त हो या अर्जित।

भूमिका की अवधारणा को कुछ विचारकों की निम्नलिखित परिभाषाओं से समझा जा सकता है-

लुण्डवर्ग के अनुसार, ''सामाजिक भूमिका किसी समूह अथवा परिस्थिति में व्यक्ति से प्रत्याशित व्यवहार का प्रतिमान है।''

किंग्सले डेविस - ''भूमिका किसी भी व्यक्ति द्वारा अपने पद की आवश्यकताओं के अनुसार सम्पन्न क्रिया है।''

ऑगबर्न एवं निमकॉफ -''भूमिका किसी समूह में किसी विशेष पद से सम्बद्ध सामाजिक स्तर पर प्रत्याशित एवं स्वीकृत व्यवहार-प्रतिमानों का संग्रह है, जिसमें कर्तव्य एवं विशेषाधिकार दोनों सम्मिलित हैं।''

इलियट एवं मैरिल के अनुसार, ''व्यक्ति अपनी प्रत्येक स्थिति के अनुसार जिन दायित्वों का निर्वाह करता है, वह उसकी भूमिका है।''

किम्बल यंग के अनुसार, ''व्यक्ति जो कार्य करता है या करवाता है, उसे हम भूमिका कहते हैं।''

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि हम प्रत्येक व्यक्ति से एक विशेष प्रकार की भूमिका अपेक्षा ;त्वसम म्गचमबजंजपवदद्ध करते हैं तथा उसी अपेक्षा के अनुसार व्यक्ति भूमिका ग्रहण करता है। अतः इस भूमिका अपेक्षा और भूमिका ग्रहण के बीच समन्वय सामाजिक संगठन का आधार है।

5.6.2 भूमिका के स्वरूप

भूमिका के निम्नलिखित चार प्रमुख रूप होते हैं-

(अ) अधिकारात्मक भूमिका

यह व्यक्ति की वह भूमिका होती है, जो वह किन्ही अधिकारों को पाने के लिए करता है। समाज व्यवस्था में जन्म के आधार पर प्राप्त अधिकार, अधिकारात्मक भूमिका कहलाते हैं। इसी प्रकार प्रजातन्त्र में प्राप्त अधिकार इसी श्रेणी में आते हैं।

(ब) आभार्य भूमिका

इसे अहसान के कार्य या भूमिका भी कहते हैं। समाज में लोग एक-दूसरे के प्रति कृतज्ञतावश कुछ कार्य या भूमिका करते हैं। ऐसे कार्यों या भूमिकाओं को आभार्य भूमिका कहते हैं। जैसे- पुत्र अपने माँ-बाप के प्रति, पति अपनी पत्नी के प्रति आदि।

(स) परम्परागत भूमिका

समाज में कुछ कार्य ऐसे होते हैं जो हमारी सामूहिक आदत में विद्यमान हो गए हैं। जिनको करने के लिए हमें प्रयास नहीं करना पड़ता है। जिन्हें हम अपने पूर्वजों के अनुसार करते रहते हैं। उन्हें परम्परागत भूमिका कहते हैं। जैसे- नमस्कार, पूजा, विवाह, श्राद्ध के विधि विधान आदि।

(द) व्यावहारात्मक भूमिका

व्यक्ति समाज में लोगों के साथ एक जैसा व्यवहार नहीं करता है। वह अपने मित्र और पिता के साथ अलग-अलग व्यवहार व कार्य करता है। ये व्यावहारात्मक कार्य कहलाते हैं।

5.6.3 भूमिका संघर्ष

सामाजिक संगठन में किसी व्यक्ति से उसकी प्रस्थिति के अनुसार उससे भूमिका निभाने की अपेक्षा की जाती है। प्रायः व्यक्ति इन्हीं सामाजिक अपेक्षाओं के अनुसार अपनी भूमिकाओं का निर्वहन करता है परन्तु कभी-कभी उसके सामने ऐसी स्थितियाँ आती हैं जिससे वह अपेक्षाओं के अनुसार भूमिका का पालन करने में असफल रहता है। इस प्रकार जब व्यक्ति द्वारा उसकी प्रस्थिति की अपेक्षाओं के अनुसार भूमिका का पालन नहीं किया जाता या उसे दो भिन्न प्रस्थितियों की भूमिका निभानी हो, जो उसके अन्दर मानसिक द्वन्द्व उत्पन्न कर दें तो उसे भूमिका संघर्ष कहा जाता है। उदाहरण के लिए मान लीजिए, किसी दिन एक पति शाम को अपनी पत्नी को फिल्म दिखाने का वादा करता है और जब दोनो फिल्म देखने के लिए निकलने वाले होते हैं, तभी पति के आफिस में उसके बास द्वारा तुरन्त बुला लिया जाता है। इस प्रकार, उस व्यक्ति की पति की प्रस्थिति ओर एक कर्मचारी होने की प्रस्थिति में टकराहट होती है जिससे वह मानसिक अंतर्द्वंद का अनुभव करता है। यदि वह आफिस जाकर कर्मचारी की भूमिका निभाता है तो वह एक पति की भूमिका से विमुख होता है और यदि वह पत्नी के साथ फिल्म देखने जाता है तो कर्मचारी की भूमिका से विमुख होता है।

इस प्रकार व्यक्ति के जीवन में अनेक बार भूमिका संघर्ष का अनुभव करता है। भूमिका संघर्ष के अनेक स्वरुप देखने को मिलते हैं-

1. भूमिका विरोध या टकराहट

जब दो या अधिक व्यक्तियों की समान स्थिति या समरूप कार्य में भूमिका संघर्ष होता है। उसे भूमिका टकराहट ;त्वसम ब्वससपेपवदद्ध कहते हैं। जैसे किसी विशेष मामले में शान्ति बनाए रखने का दायित्व केन्द्र सरकार का या राज्य सरकार का, विवाद होना।

2. भूमिका सन्देह

जब एक व्यक्ति अपनी भूमिका को अपनी तरह से निभाता है और उससे जुड़े लोग भूमिका से दूसरी तरह की अपेक्षा रखते हैं अर्थात् व्यक्ति की भूमिका और समूह सदस्यों की अपेक्षाओं के मध्य कमी आ जाती है। तो इसे भूमिका सन्देह कहते हैं।

3. भूमिका विभिन्नता

जब एक ही व्यक्ति दो या दो से अधिक भूमिकाओं को निभाता है, तब उसे भूमिका विभिन्नता कहते हैं। जैसे- एक कर्मचारी और गृहणी की भूमिका, जो विरोधी अपेक्षाएं रखती है।

5.6.4 भूमिका प्रतिमान

साधारणतया यह माना जाता है कि व्यक्ति की एक सामाजिक प्रस्थिति के अनुसार एक ही प्रकार की भूमिका की अपेक्षा होती है परन्तु वास्तविक तौर पर किसी भी प्रस्थिति के साथ विभिन्न प्रकार की भूमिकाएं या कार्य अपेक्षाएं होती है। जब एक विशेष प्रस्थिति से सम्बन्धित विभिन्न प्रस्थितियों के व्यक्तियों के साथ एक ही व्यक्ति अपनी प्रस्थिति के अनुरूप कार्य करता है तो उसे भूमिका प्रतिमान कहते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि भूमिका प्रतिमान

उसे कहते हैं, जब व्यक्ति एक ही सामाजिक प्रस्थिति के द्वारा भिन्न-भिन्न लोगों से पृथक-पृथक भूमिकाएं निभाता है।

राबर्ट मर्टन के अनुसार, "भूमिका प्रतिमान सम्बन्धों का वह पूरक है जिसे व्यक्ति किसी विशेष सामाजिक स्थिति के धारक के नाते प्राप्त करता है।" उदाहरण के लिए एक विद्यालय या महाविद्यालय के विद्यार्थी होते हुए आप कक्षाध्यापक से, अन्य शिक्षकों से, प्रधानाचार्य से, कार्यालय के कर्मचारियों से, अपने मित्रों से और विद्यालय के अन्य विद्यार्थियों से अलग-अलग प्रकार का व्यवहार करते हैं। ये सभी आप के सम्पर्क में इसलिए आते हैं कि आप विद्यार्थी हैं। अतः इन सबसे आपको व्यवहार करने के लिए विभिन्न भूमिकाएं निभानी पड़ती है। भूमिकाओं की यह जटिलता जो आपकी प्रस्थिति को प्राप्त होती है। इसे विद्यार्थी का भूमिका प्रतिमान कहा जाता है।

मानव जीवन में सामाजिक समूह का एक महत्वपूर्ण स्थान है। मनुष्य का जीवन वास्तव में सामूहिक जीवन है। सभ्यता के आरम्भ से ही व्यक्ति किसी न किसी समूह में रहता है। मानव जीवन में सामाजिक समूह का महत्व इस तथ्य से समझा जा सकता है कि यद्यपि सभी प्रकार के समूह अपने सदस्यों के व्यवहारों पर अंकुश रखते हैं फिर भी व्यक्ति समूह के बाहर रहकर जीवनयापन करना नहीं चाहता है। इसका कारण है कि कोई भी व्यक्ति आज के जटिल समाज में कुछ समूहों का सदस्य बने बिना अपनी विभिन्न आवश्यकताओं को पूर्ण नही कर सकता है। विभिन्न सामाजिक समूह व्यक्ति की आवश्यकताओं को पूरा करने के साथ ही साथ उसके व्यक्तित्व के विकास सम्बन्धी समाजीकरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। यही कारण है कि सामाजिक समूह को सामाजिक नियन्त्रण का एक प्रमुख साधन माना जाता है। कुछ समाजशास्त्रियों की यह मान्यता है कि समूहों का निर्माण मनुष्य ने अपने को सुरक्षित रखने हेतु किया तो कुछ की मान्यताएँ हैं कि मनुष्य ने अपने विभिन्न आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए समूहों का निर्माण किया। वहीं अनेक मनोवैज्ञानिकों की मान्यता है कि प्रत्येक व्यक्ति की मूल प्रवृत्ति में समूह में रहने की इच्छा अर्थात् समूह शीलता पाई जाने के कारण वह समूहों में रहता है। खैर कारण चाहे जो भी हो मानव जीवन में समूह से ज्यादा शायद ही कोई और महत्वपूर्ण व्यवस्था है। यही कारण है कि समाजशास्त्र में समूह एक महत्वपूर्ण अवधारणा है।

5.13 सारांश

प्रस्तुत इकाई में भारतीय समाज की संरचना के विषय में अध्ययन किया। सामाजिक प्रस्थिति की अवधारणा तथा प्रकार के विषय में जानकारी प्राप्त की। समूह के अर्थ एवं समूह की परिभाषा के बारे में जानकारी प्राप्त की। प्राथमिक समूह तथा द्वितीयक समूहों का अध्ययन किया। तत्पश्चात् संस्था की परिभाषा, प्रकार्य, विशेषताएँ तथा प्रकारों का ज्ञान प्राप्त किया।

5.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. भारतीय संमाज की संरचना से आप क्या समझते है ? सामाजिक प्रस्थिति की परिभाषाएं दीजिए।
2. प्रस्थितियों के प्रकारों का वर्णन कीजिए।
3. प्रदत्त व अर्जित प्रास्थिति में सम्बन्ध को समझाइये।

4. समूह का अर्थ एवं परिभाषा दीजिए तथा सामाजिक समूह एवं सामाजिक श्रेणी में अंतर स्पष्ट कीजिए।

5. निम्नलिखित पर टिप्पणी दीजिए।

   i) सामाजिक प्रस्थिति

   ii) भूमिका प्रतिमान

   iii) संस्था की विशेषताएं

   iv) संस्था के प्रकार

5.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. सिंघी, नरेन्द्र कुमार एवं गोस्वामी, वसुधाकर (2006), समाजशास्त्र विवेचन, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर

2. अहूजा, आर (1999) सामाजिक समस्याएं, रावत पब्लिकेशन्सः जयपुर

3. अहूजा, आर. एवं. अहूजा एम. (2008) समाजशास्त्र: विवेचना एवं परिप्रेक्ष्य, रावत पब्लिकेशन्सः जयपुर

4. चन्द्र, एस.एस. (2002) भारतीय सामाजिक संरचना, कनिष्का पब्लिशर्स: नई दिल्ली

5. शर्मा, आर.एन.एवं. शर्मा, आर. के. (2002) सामाजिक विघटन, एटलांटिक पब्लिशर्स एवं डिस्ट्रीब्यूटर्स: नई दिल्ली

6. शर्मा, के. एल. (2011) सामाजिक स्तरीकरण, रावत पब्लिकेशन्सः जयपुर

7. राम, एस. पी. (2010) भारतीय सामाजिक समस्याएं: अर्जुन पब्लिशिंग हाउस: नई दिल्ली

8. सिंह, डी. के., पालीवाल, एस एवं मिश्र, आर. (2010) मानव समाजः संगठन एवम् विघटन के मूल तत्वः न्यू राॅयल बुक कम्पनीः लखन

9. सिंह, ए. के. (2009) उच्चतर सामान्य मनोविज्ञान, मोतीलाल बनारसीदास: नई दिल्ली

10. सिंह एस. के. (2010) जाति व्यवस्था: निरंतरता एवं परिवर्तन, रावत पब्लिकेशनः जयपुर

11. महाजन, एस. (2010) सामाजिक समस्याएं, अर्जुन पब्लिसिंग हाउसः नई दिल्ली

12. यादव आर. (2005) सामाजिक समस्याएं, अर्जुन पब्लिशिंग हाउसः नई दिल्ली

सामाजिक समूह

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य

6.1 प्रस्तावना

6.2 सामाजिक समूह

6.2.1 अर्थ एवं परिभाषा

6.2.2 समूह की विशेषतायें

6.3 सामाजिक समूह की विशेषताएँ

6.4 सामाजिक समूह, सामाजिक समुच्चय तथा सामाजिक श्रेणी में अन्तर

6.5 समूहों का वर्गीकरण

6.6 सारांश

6.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

6.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

6.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के उपरांत आप

1 .सामाजिक समूह के अर्थ एवं परिभाषा का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

2. सामाजिक समूह की विशेषताओं के बारे में अध्ययन कर सकेंगे।

3 .सामाजिक समूह, सामाजिक श्रेणी तथा सामाजिक समुच्चय के बीच अंतर को स्पष्ट कर सकेंगे।

4. समूहों के वर्गीकरण के विषय में ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

6.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में सामाजिक समूह पर विचार किया गया है। सामाजिक समूहों में व्यक्तियों के बीच आपस में किसी न किसी प्रकार का सम्बंध अवश्य होता है। इसके साथ-साथ सदस्यों, सहभागिता एवं अंतःक्रिया का होना भी आवश्यक होता है। एक सामाजिक दो या दो से अधिक व्यक्तियों का योग होता है। जिनका कुछ समान उद्देश्य होता है, एक दूसरे को उत्तेजित करते है। समान भक्ति रखते है तथा समान क्रियाओं में भाग लेते है। समूह से तात्पर्य व्यक्तियों के किसी भी संग्रह से है जो सामाजिक बंधनों के कारण एक-दूसरे के समीप है।

6.2 सामाजिक समूह

हमारे सामाजिक जीवन में समूह का एक महत्वपूर्ण स्थान है समाज में रहने वाले व्यक्ति महत्वपूर्ण स्थान है। समाज में रहने वाले व्यक्ति किसी न किसी समूह के सदस्य होते हैं। सामाजिक समूहों की व्यक्तित्व के विकास समाजीकरण में महत्वपूर्ण भूमिका है, जार्ज सी. होमन्स के अनुसार ऐसे व्यक्तियों से है जो स्थापित प्रतिमानों के अनुसार अन्तःक्रिया करते हैं।

सामाजिक सम्बन्धों के द्वारा समाज का निर्माण होता है। समूह मानव जीवन की अनिवार्य आश्यकता है। व्यक्ति के जीवन में किसी न किसी प्रकार के समूह से जुड़ा रहता है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है तथा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति समूह के द्वारा ही करता है। विभिन्न सामाजिक समूहों के द्वारा व्यक्ति सामाजीकरण की प्रक्रिया को करता है।

साधारण बोलचाल की भाषा में समूह का अर्थ दो या दो से अधिक व्यक्तियों के संग्रह से समझा जाता है। परन्तु समूह के लिए न केवल दो या दो से अधिक व्यक्तियों का होना आवश्यक है बल्कि समान भागीकरण एव अन्तः क्रिया का होना भी आवश्यक दशा है। कहने का तात्पर्य यह है कि समूह का निर्माण ऐसे व्यक्तियों से होता है जों अपने विभिन्न स्वार्थो अथवा आवश्यकताओं के कारण एक दूसरे से सम्बन्धित होते हैं तथा प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से एक दूसरे को प्रभावित करते हैं उदाहरण के लिए, व्यक्तियों की भीड़ को हम समूह नही कह सकते क्योंकि इस एकीकरण में कोई भी व्यक्ति एक दूसरे को प्रभावित नही करता है। वास्तव में सामाजिक समूह का अर्थ व्यक्तियों में शारीरिक समीपता का होना मात्र नहीं है बल्कि समूह की प्रमुख विशेषता कुछ व्यक्तियों का एक दूसरे से सम्बन्ध स्थापित करना या एक दूसरे के व्यवहारों को प्रभावित करना है। उदाहरण के लिए एक जाति, सामाजिक वर्ग, पड़ोस, गाँव, श्रोतासमूह, प्रजाति, और राजनैतिक दल कुछ विशेष प्रकार के सामाजिक समूह हैं जिसके अन्तर्गत प्रत्येक सदस्य दूसरे से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सम्बन्धित रहता है और अन्य समूहों की तुलना में अपने समूह के सदस्यों के प्रति सहानुभूति रखता है।

इस दृष्टिकोण से सभी व्यक्ति निम्न आधारों पर किसी न किसी समूह में विभाजित हैं-

1. व्यावसायिक आधार पर- मजदूर, क्लर्क, कलाकार, अध्यापक, इन्जीनियर, डाक्टर, और व्यापारीसमूह आदि में विभाजित हैं।

2. आयु के आधार पर- बच्चों, युवा, प्रौढ़ समूहों के सदस्य होते हैं।

3. लिंग के आधार पर- स्त्री और पुरूष समूहों में विभक्त हैं।

इसी प्रकार समाज धर्म में विश्वास रखने वाले, एक साथ कक्षा में पढ़ने वाले, समान रूचियों रखने वाले व्यक्ति भी समूह का निर्माण करते हैं।

"अतः यह कहा जा सकता है कि समूह (सामाजिक समूह) एक ऐसा संगठन है जिसके अन्तर्गत लोगों के समान उद्देश्य होते हैं, उद्देश्य के अनुसार सम्बन्ध स्थापित होते हैं, उनमें सामान्य समझ होती है और समुचित भागीकरण पाया जाता है।"

6.2.1 अर्थ एवं परिभाषा

सामाजिक समूहों मे व्यक्तियों के बीच आपस में किसी न किसी प्रकार का सम्बन्ध अवश्य होता है। इसके साथ-साथ सदस्यों सहभागिता एवं अन्तःक्रिया का होना भी आवश्यक होता है। सामाजिक समूह के सन्दर्भ में कुछ परिभाषायें निम्न है-

बोगार्डस ई.एस. के अनुसार-एक सामाजिक दो या दो से अधिक व्यक्तियों का योग होता है। जिन का कुछ समान उद्देश्य होता है, एक दूसरे को उत्तेजित करते है। समान भक्ति रखते है। तथा सामान्य क्रियाओं में भाग लेते है।

आगबर्न डब्लू.एफ. एण्ड निम्काफ के अनुसार- जब कभी दो या दो से अधिक व्यक्ति एकत्रित होकर एक-दूसरे पर प्रभाव डालते है। तब ते एक समूह का निर्माण करते है।

मैकाइवर एण्ड पेज के अनुसार-समूह से हमारा तात्पर्य व्यक्तियों के किसी भी ऐसे संग्रह से है। जो सामाजिक बन्धनों के कारण एक-दूसरे के समीप है।

इलियर और मेरिल के अनुसार-सामाजिक समूह दो या दो से अधिक व्यक्तियों का ऐसा समूह है। जिसका एक लम्बी अवधि से संचार होता रहा है। और जो एक सामान्य कार्य या प्रयोजन के अनुसार कार्य करते है।

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर हम कह सकते है कि समूह का निर्माण दो या दो से अधिक व्यक्तियों के मिलने से होता है। उनमें अन्तःक्रिया होती है। सम्बन्धों को स्पष्ट स्वरूप होता है।

समूह के द्वारा समान उद्देश्यों एवं आवश्यकताओं की पूर्ति होती है तथा सामाजिक सम्बन्धों का निर्माण होता है।

6.2.2 समूह की विशेषतायें

समूह एक आवश्यक प्रक्रिया है। इसकी विशेषतायें निम्नलिखित है-

1. व्यक्तियों द्वारा समूह का निर्माण

समूह के निर्माण क लिए यह आवश्यक है कि दो या दो से अधिक व्यक्ति होने चाहिए और उनमें आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध होते है और प्रत्येक व्यकित की अपनी भूमिका होती है।

2. समान उद्देश्य

समूह के सदस्य समान उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु सम्बन्ध स्थापित करते है और सामूहिक रूप से प्रयास करते है। सदस्यों के बीच विचारों की समानता के कारण सहयोग की भावना का विकास होता है।

3. सामाजिक आदर्श

समूह के सामाजिक प्रतिमान होते है जिनको बनाये रखने के लिए व्यवहारों को निश्चित करते है प्रत्येक व्यक्ति प्रथाओं, रीतियों, एवं नैतिकता का पालन करता है।

4. स्थाई सम्बन्ध

समूह के सदस्यों के मध्य स्थायी सम्बन्ध होते है। सम्बन्धों में जितनी गहरायी होती है। समूह में एकता उतनी ही मजबूत होती है। उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए स्थायी सम्बन्ध और एकता का होना आवश्यक होता है।

5. कार्य पद्धति

समूह के सदस्य अपनी-अपनी भूमिका एवं स्थिति के अनुसार कार्य निर्धारित करते है। सदस्यों में उनके पदों के अनुसार स्तरीकरण पाया जाता है।

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर समूह निर्माण की दशाएँ निम्नलिखित स्पष्ट होती है:

(1) व्यक्तियों का संग्रह हो।

(2) परस्पर सम्बन्ध हो।

(3) समान उपयोगितावादी दृष्टिकोण हो।

(4) सामान्य रूचि हो।

(5) विचारों एवं भावनाओं का आदान प्रदान हो।

(6) एक दूसरे के प्रति चेतन हो।

(7) सामान व्यवहार हो।

(8) ऐच्छिक सदस्यता हो।

6.3 सामाजिक समूह की विशेषताएँ

सामाजिक समूह की विभिन्न समाजशास्त्रियों द्वारा दी गई परिभाषाओं के आधार पर निम्नलिखित विशेषताएँ स्पष्ट होती है-

(1) एक से अधिक व्यक्तियों का संग्रह- समूह में सदैव एक से अधिक व्यक्ति होते हैं अर्थात् कम से कम दो व्यक्ति तो जरूरी हैं। जो किसी भी समूह की प्राथमिक विशेषता कही जा सकती है। जैसे- परिवार समूह का निर्माण पति-पत्नी के द्वारा होता है।

(2) पारस्परिक सम्बन्ध - मनुष्यों के किसी भी संग्रह मात्र को समूह नही माना जा सकता है। समूह के सदस्यों मे परस्पर अन्तः सम्बन्ध होने चाहिए। वास्तव में ये सामाजिक सम्बन्ध ही तो समूह है। यही कारण है कि किसी मेले या भीड़ को सामाजिक समूह नहीं कहा जाता है।

(3) सामान्यहित और उद्देश्य - समूह के सदस्य सामान्यहित और लक्ष्य के चलते एक साथ रहते हैं। वास्तव में व्यक्ति सामाजिक समूह का सदस्य समानहित व उद्देश्य होने पर ही बनता है। समूह में प्रत्येक व्यक्ति का कुछ न कुछ अपना स्वार्थ जुड़ा होता है परन्तु यह स्वार्थ वैसा होता है जो समूह के सभी सदस्यों का समान रूप से होता है।

(4) एकता की भावना - सामाजिक समूह के सभी सदस्य एकता और परस्पर सहानुभूति की भावना से बंधे रहते हैं।

(5) सापेक्षिक स्थायित्व - प्रत्येक समूह सापेक्षिक दृष्टि से विभिन्न व्यक्तियों के एकत्रीकरण की तुलना में अधिक स्थाई प्रकृति का होता है। जैसे किसी मेले या भीड़ की तुलना में परिवार, गाँव, आदि अधिक स्थाई समूह है।

(6) समूह आदर्श नियम - प्रत्येक प्रकार के समूह में अपने सदस्यों के व्यवहार हेतु निश्चित नियम कानून होते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि यह नियम कानून लिखित रूप से हों। समूह अपने स्थायित्व हेतु सदस्यों से यह अपेक्षा रखता है कि वे समूह के नियम कानूनों का पालन ठीक से करें।

(7) कार्य विभाजन - समूह के सभी सदस्यों के अलग-अलग कार्य होते हैं जिनके पूर्ण होने पर ही समूह के उद्देश्य प्राप्त होते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि समूह के सदस्य पारस्परिक सम्बन्धों से जुड़े रहते हैं इसका मतलब यह नहीं है कि सभी सदस्य एक ही प्रकार का कार्य भी करते है।

(8) ऐच्छिक सदस्यता - सामाजिक समूह का सदस्य होना व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर करता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने विभिन्न हितों और उद्देश्यों के अनुसार समूह का सदस्य होना स्वीकार या अस्वीकार करता है। इस प्रकार कुछ समूह ऐसे होते हैं जिसकी सदस्यता व्यक्ति जब चाहे त्याग सकता है अथवा ग्रहण कर सकता है। परन्तु कुछ प्राथमिक समूहों जैसे परिवार, नातेदारी आदि की सदस्यता आसानी से नही छोड़ी या ग्रहण की जा सकती है।

(9) सामाजिक पहचान- प्रत्येक सामाजिक समूह की अपनी एक पहचान होती है। जिसके फलस्वरूप लोग यह जानते हैं कि अमुक व्यक्ति अमुक समूह का सदस्य है। यह आवश्यक नहीं है कि किसी समूह के सदस्यों में भली-भाँति पहचान हो। परन्तु समूह या बाहर के लोग किसी व्यक्ति को किसी समूह के सदस्य के रूप में सामाजिक पहचान रखते है।

(10) हम की भावना - सामाजिक समूह की एक विशेषता' हम भावना' का होना है। समान लक्ष्य, स्वार्थ व दृष्टिकोण के कारण सदस्यों में परस्पर सहयोग पाया जाता है जो हम की भावना का विकास करता है।

सामाजिक समूहों के वर्गीकरण मे चाल्स कूले द्वारा दिये गये वर्गीकरण को सबसे अधिक वैज्ञानिक और महत्वपूर्ण माना जाता है। कूले ने अपनी पुस्तक 'Social Organization' में सभी समूहों को दो भागों में विभाजित किया है- प्राथमिक समूह तथा द्वैतीयक समूह । यह वर्गीकरण समूह के सदस्यों की संख्या, समूह के महत्व और सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्धों के आधार पर किया गया है।

6.4 सामाजिक समूह, सामाजिक समुच्चय तथा सामाजिक श्रेणी में अन्तर

सामाजिक समूह , सामाजिक श्रेणी अथवा सामाजिक समुच्चय नहीं है। इन तीनों की अवधारणाओं में अन्तर है। गिडेन्स ने स्पष्ट किया कि इन तीनों का प्रयोग एक ही अर्थ में नहीं किया जाना चाहिए। उनके अनुसार-

सामाजिक समुच्चय

यह व्यक्तियों का ऐसा समग्र है जिसके अन्तर्गत अनेक लोगों के मध्य किसी प्रकार सम्बन्ध नहीं होता है। जैसे- रेलवे स्टेशन, बस स्टेशन, मेला आदि सामाजिक समुच्चय के उदाहरण हैं- इनको सामाजिक समूह नहीं कहा जा सकता।

सामाजिक श्रेणी

यह व्यक्तियों का एक संख्यात्मक समूह है, जिसके अन्तर्गत लोगों के मध्य पाये जाने वाली कुछ समानताओं के अनुसार उन्हे विभिन्न वर्गों में बाँटा जा सकता है। जैसे- समान आय या समान पद या समान शिक्षा वाले व्यक्तियों का समूह, सामाजिक श्रेणी कहलाता है, सामाजिक समूह नहीं।

6.5 समूहों का वर्गीकरण

समाज में पाये जाने वाले समूहों की विभिन्न समाज शास्त्रियों ने अपने दृष्टिकोण के अनुसार वर्गीकृत किया है। परन्तु कूले ने पारस्परिक घनिष्टता को सर्वोपरी मानते हुए दो प्रकार के समूहों का वर्णन किया है

(I) प्राथमिक समूह

प्राथमिक समूहों से तात्पर्य उस समूह से है। जिसमें सम्बन्ध आमने-सामने के होते है जिनमें परस्पर सहयोग की भावना होती है। प्राथमिक समूह सही अर्थों में प्राथमिक ही है। सदस्यों में सम्बन्ध सामान्य से सम्पूर्णता लिए हुए होते है। यह सम्पूर्णता हम की भावना का विकास करती है। व्याहारिक एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टि से प्राथमिक समूह अत्यन्त महत्वपूर्ण होते है। इन समूहों के द्वारा व्यक्ति समाज के सदस्यों के साथ सम्बन्ध स्थापित करता है। प्राथमिक समूह के माध्यम से आदतों, भावनाओं, मूल्यों, आवश्यकताओं प्रत्यक्षीकरण की बुनियाद बनती है। इसी वजह से कूले ने इसे मसनव स्वभाव की पोषिका कहा है। प्राथमिक समूह के अन्तर्गत परिवार, गांव, समुदाय खेल-कूद के साथी, पड़ोस इत्यादि आते हैं।

(ii) द्वितीयक समूह

द्वितीयक समूह आधुनिक समाज की देन है आज के समय में सम्बन्धों में अपनत्व और घनिष्ठता का अभाव हैं। द्वितीयक समूहों से तात्पर्य ऐसे समूहों से है जिनमें अव्यैक्तिक सम्बन्ध होते है। व्यक्ति अपने उद्देश्यों की पूर्ति हेतु इनका सदस्य बनता है।

(iii) सन्दर्भ समूह

समाजशास्त्र में सन्दर्भ समूह की अवधारणा का अत्यन्त महत्व है। मनोविज्ञान में भी इस अवधारणा का व्यवस्थित रूप से प्रयोग हुआ है। सन्दर्भ समूह उस समूह के कहते हैं जिसमें कोई मनुष्य अपनी इच्छा के अनुसार सम्बन्ध स्थापित कर लेता है।

आज का युग गतिशीलता का युग है। हर क्षेत्र में गतिशीलता पाई जाती है। इसी कारण से अधिक समूहों का विकास हुआ है। हर समूह अपने.अपने मूल्यों तथा प्रतिमानों पर आधारित है। चयन करने के लिए समूहों की लाइन लगी है। हर व्यक्ति को अधिकार है कि वह अपनी इच्छानुसार समूह का चयन कर सकता है। इस प्रकार विशिष्ट समूह को ही 'सन्दर्भ समूह कहते हैं।

6.6 सारांश

प्रस्तुत इकाई में सामाजिक समूह के विषय पर अध्ययन कियर। सामाजिक समूह के अर्थ, परिभाषा तथा सामाजिक समूह की विशेषताओं के बारे में अध्ययन किया। सामाजिक समूह, सामाजिक समुच्चय तथा सामाजिक श्रेणी के बीच अंतर को स्पष्ट किया गया हैं तथा अंत में समूहों के वर्गीकरण का भी ज्ञान प्राप्त किया।

6.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. सामाजिक समूह क्या है ? परिभाषित कीजिए।
2. सामाजिक समूह की विशेषताओं का वर्णन कीजिए

3. सामाजिक समुच्चय तथा सामाजिक श्रेणी में अंतर स्पष्ट कीजिए।

4. समूहों के वर्गीकरण को स्पष्ट कीजिए।

6.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. मिश्र, पी.डी. (2003) व्यक्ति और समाज, न्यू रा ॅयल बुक कम्पनी: लखनऊ

2. मिश्र, पी.डी. एवं मिश्रा बी. (2004) सोशल वर्क प्रोफेशन इन इण्डिया, न्यू रा ॅयल बुक कम्पनी: लखनऊ

3. महाजन, एस. (2010) सामाजिक समस्याएं, अर्जुन पब्लिसिंग हाउसः नई दिल्ली

4. यादव आर. (2005) सामाजिक समस्याएं, अर्जुन पब्लिशिंग हाउसः नई दिल्ली

5. अहूजा, आर (1999) सामाजिक समस्याएं, रावत पब्लिकेशन्सः जयपुर

6. अहूजा, आर. एवं. अहूजा एम. (2008) समाजशास्त्र: विवेचना एवं परिप्रेक्ष्य, रावत पब्लिकेशन्सः जयपुर

इकाई-7

सामाजिक समूह के प्रकार

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य

7.1 प्रस्तावना

7.2 सामाजिक समूह के प्रकार

7.3 कूले का वर्गीकरण

7.4 सामाजिक नियन्त्रण मे समूहों की भूमिका

7.5 सारांश

7.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

7.7 सन्दर्भ ग्रन्थ

7.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के उपरांत आप-

1.समूह के प्रकार , जिसके अन्तर्गत बोगार्डस, मिलर, गिडिन्स, एलवुड, लेस्टर वार्ड, समनर, गिलिन एवं गिलिन, टानीज, न्यूकाम्ब राबर्ट के मर्टन, मैकाइवर एवं पेज तथा कूले के वर्गीकरण को जान सकेंगे।

2.कूले के वर्गीकरण के अन्तर्गत प्राथमिक समूह तथा द्वितीयक समूहों का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

3. सामाजिक नियंत्रण में समूहों भी भूमिका को समझ सकेंगे।

7.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में समूह के प्रकार पर विचार किया गया है। बोगाडिस के अनुसार समूह औपचारिक तथा अनौपचारिक, ऐच्छिक तथा अनैच्छिक जननिक तथा समूहीकृत और प्राथमिक तथा द्वितीयक होते हैं। मिलर के अनुसार विषम जातीय तथा सजातीय समूह पाये जाते है। गिडिन्स के अनुसार सार्वजनिक तथा वैयक्तिक समूह होते हैं। समनर के अनुसार अन्तः समूह तथा वाह्य समूह, मर्टन के अनुसार सदस्यता समूह तथा असदस्यता समूह पाये जाते है। मैकाइवर तथा पेज ने समूहों को कई भागों में विभाजित किया है जिसमें क्षेत्रिय समूह हितों के प्रति चेतन समूह अनिश्चित संगठन वाले समूह तथा निश्चित संगठन समूह प्रमुख हैं। तत्पश्चात् कुले ने समूह को प्राथमिक तथा द्वितीयक समूह में विभाजित किया।

7.2 समूह के प्रकार

भिन्न-भिन्न समाजशास्त्रियों ने समूहों के प्रकारों का वर्णन भिन्न-भिन्न आधारों पर किया है। किसी ने समय को वर्गीकरण का आधार माना है तो किसी ने इसकी स्थाई प्रकृति को। सबसे प्रमुख आधार सामाजिक सम्बन्धों की गहनता का रहा है। इस प्रकार विभिन्न मतों को देखते हुए समूहो का वर्गीकरण निम्नलिखित चार आधारों पर किया जा सकता है:

;1) सदस्यों की संख्या का आधार

समाज में अनेक छोटे या बडे समूह होते हैं। सामाजिक सम्बन्ध समूह में सदस्यों की संख्या पर निर्भर करते हैं। अर्थात् बड़े समूह की अपेक्षा छोटे समूह में सम्बन्ध ज्यादा घनिष्ठ व व्यवस्थित होंगे। छोटे से छोटे समूह का निर्माण दो व्यक्तियों का हो सकता है। दो व्यक्तियों के आपसी सम्बन्ध को जर्मन समाजशास्त्री सिमैल ने युग्म कहा है। उसी तरह तीन के समूह को त्रिमूर्ति कहा है।

(2) आवश्यकता का आधार

जिनकी आवश्यकता सार्वभौमिक होती है। जिसके परिणामस्वरूप व्यक्ति स्वेच्छा से उनका सदस्य होता है। दूसरे शब्दों में ये वे समूह होते हैं जो स्थाई होते हैं। परिवार, शिक्षण संस्थाएं, नातेदारी समूह, धार्मिक समूह, राज्य आदि स्थाई एवं आवश्यक समूह हैं। इसके विपरीत कुछ समूह व्यक्ति की इच्छा पर आधारित होते हैं अर्थात् समय विशेष के लिए बनते हैं। जिनकी प्रकृति अस्थाई होती है जेसे भीड़, श्रोता समूह, खेल समूह, मनोरंजन समूह आदि।

(3) सामाजिक स्थिति का आधार

व्यक्तियों की सामाजिक स्थिति के आधार पर भी समूहो का निर्माण होता है। समाज में कुछ समूह ऐसे भी होते हैं जिनमें लगभग सभी सदस्यों का समान स्तर होता है। दूसरी ओर कुछ ऐसे समूह भी होते हैं जो विभिन्न हैसियत और पेशे वाले व्यक्तियों को एक साथ जोड़ते हैं। जैसे मजदूर संघ, शिक्षक संघ आदि समान स्तर के समूह हैं और जाति समूह विभिन्न हैसियत वाले लोगो के समूह का सर्वोत्तम उदाहरण है।

(4) दृष्टिकोण का आधार

व्यक्तियों को एक दूसरे के प्रति विचार भाव तथा दृष्टिकोण के आधार पर भी वर्गीकृत किया जा सकता है। जैसे अन्तः समूह एवं बाह्य समूह, तथा हम समूह एवं वे समूह।

इस प्रकार समाजशास्त्रियों द्वारा समूहों का वर्गीकरण अनेक आधारों पर किया गया है। यहाँ पर कुछ प्रमुख समाजशास्त्रियों द्वारा दिए गए वर्गीकरण तक हम अपने आपको सीमित रख रहे हैं।

1. बोगार्डस का वर्गीकरण

बोगार्डस ने समूहों को छः वर्गों में विभक्त किया है-

(1) औपचारिक, अनौपचारिक और प्रशासकीय

(2) ऐच्छिक और अनैच्छिक

(3) जननिक और समूहीकृत

(4) प्राथमिक और द्वितीयक

(5) विभाजनकारी और अतिक्रमणकारी

(6) सामाजिक ,आसामाजिक ,अर्ध सामाजिक ,सामाजिक पक्षधर और सामाजीकृत

2. मिलर का वर्गीकरण

मिलर ने समूहों को दो भागों में बाटा है-

(अ) विषमजातीय

(ब) समजाजीय

(अ) विषमजातीय समूह

इस समूह के सदस्य विभिन्न स्तरों में बँटे होते हैं। भारतीय जाति व्यवस्था इसका सबसे अच्छा उदाहरण है क्योंकि जाति व्यवस्था के अन्तर्गत सदस्यों का पद, प्रतिष्ठा एवं भूमिका एक दूसरे से भिन्न होती है। इसी प्रकार आर्थिक समूह, धार्मिक समूह आदि में भी ऊँच नीच, प्रतिष्ठित या अप्रतिष्ठित सभी प्रकार के सदस्य पाये जाते हैं। ऐसे समूहो में सदस्य स्वंय कई आधारों पर कई स्तरों में बँटे रहते हैं।

(ब) समजातीय समूह

इस समूह में सभी सदस्य लगभग एक ही सामाजिक आर्थिक स्तर के होते हैं। इस प्रकार के समूह में सभी सदस्यों की पद प्रतिष्ठा आदि लगभग एक जैसी होती है। ऐसे समूहों की प्रमुख विशेषता यह होती है कि समान सामाजिक स्थिति के कारण सदस्यों में घनिष्ठ सम्बन्ध होते हैं। जैसे- शिक्षक संघ, मजदूर संघ, आदि।

3. गिडिन्स का वर्गीकरण

गिडिन्स ने दो प्रकार के समूह बताएं हैं:

(अ) सार्वजनिक

(ब) वैयक्तिक

4. एलवुड का वर्गीकरण

एलवुड के अनुसार सामाजिक समूह दो प्रकार के होते हैं।

(अ) स्वीकृत

(ब) अस्वीकृत

5. लेस्टर वार्ड का वर्गीकरण

लेस्टर वार्ड ने समूह के विभिन्न स्वरूपों को ध्यान में रखकर उसे मुख्य रूप से दो भागों में बाँटा है।

(अ) ऐच्छिक

(ब) अनिवार्य

(अ) ऐच्छिक समूह

ऐच्छिक समूह से तात्पर्य उन समूहो से है जिनका निर्माण व्यक्तियों द्वारा किन्हीं विशेष हितों को ध्यान में रखकर किया जाता हैं। ऐसे समूहो की सदस्यता ऐच्छिक होती है। इसके लिए उनके ऊपर कोई दबाव नहीं होता है। जैसे क्लब की सदस्यता, सहकारी समिति, ट्रेड यूनियन, महाविद्यालय आदि।

(ब) अनिवार्य समूह

अनिवार्य समूह वो हैं जिनका विकास स्वतः या प्राकृतिक रूप से हुआ है जिसमें शामिल होने या न होना व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर नहीं करता है। बल्कि सामान्य जीवन निर्वाह के लिए सदस्यता अनिवार्य होती है। परिवार, जाति, समुदाय ऐसे ही समूह हैं।

6. समनर का वर्गीकरण

समनर ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक ''फोस्कवेज'' में दो प्रकार के समूहों की चर्चा की है।

(1) अन्तः समूह

(2) बाह्य समूह

(1) अन्तः समूह

हम उन समूहों को अन्तः समूह कहते हैं जिनके सदस्य आपस में अपने को 'हम' शब्द के द्वारा सम्बोधित करते हैं। समूह के कार्यो को 'हमारे कार्य' समूह के दृष्टिकोण तथा उद्देश्य को 'हमारा दृष्टिकोण' तथा 'हमारा उद्देश्य' आदि शब्दों द्वारा स्पष्ट करते हैं। उदाहरण के लिए, जब हम कहते हैं कि यह हमारा परिवार, हमारा साथी, हमारा व्यवसाय, हमारा गाँव, हमारी जाति अथवा हमारा मन्दिर है, तब ये सभी सम्बोधन एक अन्तः समूह की ओर संकेत करते हैं। अन्तः समूह के सभी सदस्य यह विश्वास करते हैं कि समूह के कल्याण में ही उनका कल्याण है। इस भावना के कारण वे सदैव अपने समूह के सदस्यों का ही पक्ष लेते हैं। उदाहरण के लिए, परिवार एक अन्तः समूह है और इसीलिए हम अपने परिवार के सदस्य की कुछ गलती होने पर भी किसी दूसरे व्यक्ति की अपेक्षा उसी का पक्ष लेते है और उसे न्यायोचित दिखाने का प्रयत्न करते हैं। अन्तःसमूह का कोई निश्चित आकार नहीं बतलाया जा सकता। यह स्थान और परिस्थिति के अनुसार घटता-बढ़ता रहता है। यदि दो परिवारों के बीच संघर्ष हो, तब हमारा परिवार हमारे लिए अन्तःसमूह हो जाता है। यदि यही संघर्ष दो गाँवों के बीच हो, तब जिस गाँव में हम रहते हैं वह हमारा अन्तः समूह बन जाता है और यही संघर्ष यदि दो देशों के बीच है तो हमारा सम्पूर्ण देश हमारे लिए अन्तःसमूह हो जायेगा। तात्पर्य यह है कि किसी स्थान अथवा परिस्थिति विशेष में हम जिस समूह से बहुत समीपता और अपनापन महसूस करते हैं, वही हमारे लिए अन्तःसमूह होता है।

(2) बाह्य समूह

बाह्य समूह वह है जिसके प्रति हमारी भावनाएँ और मनोवृत्तियाँ भेदभाव की होती हैं। अक्सर इन समूहों के सदस्यों को हम सन्देह और घृणा की दृष्टि से देखते हैं। हम उन्हें किसी बाहरी समूह के रूप में देखते हैं। ऐसे समूहो के सदस्यों को हम कम आदरपूर्ण और कभी-कभी भद्दे शब्दों से सम्बोन्धित करते है। तात्पर्य यह है कि जब हम किसी विशेष कारण के बिना ही कुछ व्यक्तियों से सामाजिक दूरी का अनुभव करते हैं और उनको 'चोर', 'विदेशी' व 'जंगली' जैसे शब्दों से पुकारते हैं, तब ऐसे व्यक्तियों के समूह को ही हम 'बाह्य समूह' कहते हैं। इससे स्पष्ट होता है

कि जिस समूह के साथ भी हमारे सम्बन्ध कम मित्रतापूर्ण, घृणा अथवा संघर्ष के होते हैं, वही हमारे लिए बाह्य समूह हो जाता है।

7. गिलिन और गिलिन का वर्गीकरण

गिलिन और गिलिन ने विभिन्न विशेषताओं के आधार पर समूहो को चार वर्गो में बाँटा है।

(1) नातेदारी या रक्त सम्बन्ध

(2) शारीरिक विशेषताओं वाले

(3) स्थानीय निकटता पर आधारित

(4) सांस्कृतिक हितों पर आधारित

8. टानीज का वर्गीकरण

एफ. टानीज ने अपनी पुस्तक ''कम्यूनिटी एण्ड एसोसियेशन'' में दो प्रकार के समूहों के बीच विभेद किया है।

(1) गैमिनशैफ्ट (समुदाय)

(2) गैसलशैफ्ट (समाज)

(1) गैमिनशैफ्ट

गैमिनशैफ्ट वह सामाजिक व्यवस्था है जिसमें धनिष्ठ, निजी अपवर्जी सम्बन्ध पाये जाते हैं। जैसे परिवार, नातेदारी समूह, पड़ोस, मित्र समूह आदि।

(2) गैसलशैफ्ट

गैसलशैफ्ट का सम्बन्ध सार्वजनिक जीवन ही है। ऐसा जीवन जिसमें जागरूक होकर और सप्रयास प्रवेश किया जाता है।

इन दोनों के सम्बन्धों को हम निम्नलिखित प्रकार से और स्पष्ट रूप से समझ सकते है:

गैमिनशैफ्ट सम्बन्ध	गैसलशैफ्ट सम्बन्ध
व्यक्तिगत	अवैयक्तिक
अनौपचारिक	औचारिक
परम्परागत	उपयोगितावादी
भावनापरक	व्यावहारिक
सामान्य	विशेष

9. न्यूकाँम्ब का वर्गीकरण

न्यूकाम्ब ने दो प्रकार के समूहों का प्रतिपादन किया है-

(अ) सकारात्मक समूह

(ब) नकारात्मक समूह

(अ) सकारात्मक समूह

न्यूकाॅम्ब के अनुसार व्यक्ति का कुछ समूहों के प्रति अधिक झुकाव होता है। वह सरलता पूर्वक ऐसे समूह के मूल्यों और प्रतिमानों को ग्रहण करता है। ऐसे समूह सकारात्मक समूह हैं।

(ब) नकारात्मक

ऐसे समूह हैं जिन्हें व्यक्ति द्वारा पसन्द नही किया जाता है। उन्हें नकारात्मक समूह कहते हैं।

10. राबर्ट. के. मर्टन का वर्गीकरण

मर्टन ने निम्न दो प्रकार के समूहों का प्रतिपादन किया है-

(अ) सदस्यता समूह

(ब) असदस्यता समूह

(अ) सदस्यता समूह

मर्टन के अनुसार व्यक्ति परिवार में जन्म लेता है। जन्म के द्वारा वह कुछ समूहों का सदस्य बन जाता है जैसे गाँव, कस्बा, जाति और धर्म आदि। इन समूहों को सदस्यता समूहों के नाम से जाना जाता है।

(ब) असदस्यता समूह

जैसे-जैसे व्यक्ति बड़ा होता है वह अन्य दूसरे समूहों जैसे क्लब, राजनीतिक दल आदि की सदस्यता ग्रहण करता है। मर्टन ने इन्हें असदस्यता समूह माना है।

11. मैकाइवर और पेज का वर्गीकरण

मैकाइवर ने अपनी पुस्तक 'सोसाइटी' में अनेक आधारों पर विभिन्न समूहों को चार मुख्य भागों मे विभाजित करके स्पष्ट किया है-

(अ) क्षेत्रीय समूह

क्षेत्रीय समूह वे होते हैं जिनके सदस्य एक निश्चित क्षेत्र के अन्दर रहकर सम्बन्धों की स्थापना करते हैं। इस क्षेत्र के अन्दर ही उस समूह के सभी सदस्यों के हितों की पूर्ति होती है। जैसे गाँव पड़ोस, जनजाति, समुदाय, नगर आदि क्षेत्रीय समूह हैं।

(ब) हितों के प्रति चेतन समूह

ये समूह वे हैं, जिनके सदस्य अपने समूह के हितों के लिए बहुत जागरूक होते हैं। अपने समूह को लाभ पहुँचाने के लिए अक्सर इन समूहों के सदस्य दूसरे समूहों का अहित करने में भी संकोच नही करते। ऐसे समूह के सभी सदस्यों की मनोवृत्तियाँ लगभग समान होती हैं और सम्पूर्ण समूह के कल्याण में ही व्यक्ति अपना कल्याण देखता है। उदाहरण के लिए श्रमिक वर्ग, एक विशेष जाति, प्रजातीय समूह , शरणार्थी समूह और धार्मिक समूह इसी श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं।

(स) अनिश्चित संगठन वाले समूह

ये समूह वे हैं, जिनमें बहुत से व्यक्ति किसी उद्देश्य को पूरा करने के लिए एकाएक संगठित हो जाते हैं और उद्देश्य पूरा हो जाने के बाद तुरन्त एक-दूसरे से पृथक हो जाते हैं। इन समूहों के सदस्यों में भी समान मनोवृत्तियाँ पायी

जाती हैं, लेकिन इनका संगठन बहुत अनिश्चित और अस्थिर प्रकृति का होता है। ऐसे समूहों का सबसे अच्छा उदाहरण 'भीड़' है जो एकाएक संगठित होती है और जल्दी ही समाप्त हो जाती है।

(द) निश्चित संगठन वाले समूह

कुछ समूहों का संगठन बहुत निश्चित प्रकृति का होता है। इनका विकास बहुत धीरे-धीरे होता है, और इन समूहों के सदस्य अपने समूह की सदस्यता के प्रति काफी जागरूक होते हैं। इसके उपरान्त भी इन समूहों को दो प्रमुख भागो मे विभाजित किया जा सकता है। प्रथम तो वे जिनके अन्दर केवल सीमित हितों के पूर्ति होती है, जैसे परिवार, पड़ोस, खेल के साथी और क्लब आदि। दूसरे, वे हैं जो काफी संगठित होते ही हैं, साथ ही इनके अन्य सदस्यों के बहुत से हितों की पूर्ति होती है। इनका आकार पहले वाले समूहों की तुलना में काफी बड़ा होता है। उदाहरण के लिए, राज्य, आर्थिक संघ, श्रमिक संघ और धार्मिक संघ इसी प्रकार के समूह हैं।

7.4 कूले का वर्गीकरण

सामाजिक समूहों के वर्गीकरण मे चाल्स कूले द्वारा दिये गये वर्गीकरण को सबसे अधिक वैज्ञानिक और महत्वपूर्ण माना जाता है। कूले ने अपनी पुस्तक 'Social Organization' में सभी समूहों को दो भागों में विभाजित किया है- प्राथमिक समूह तथा द्वैतीयक समूह । यह वर्गीकरण समूह के सदस्यों की संख्या, समूह के महत्व और सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्धों के आधार पर किया गया है। निम्नांकित विवेचन में हम इन दोनों प्रकार के समूहों की प्रकृति व अन्तर को विस्तार से स्पष्ट करेंगे।

1 प्राथमिक समूह: कूले की अवधारणा

अमेरिका के समाजशास्त्र में प्राथमिक समूह की अवधारणा चाल्स होर्टन कूले ने सर्वप्रथम 1909 मे अपनी पुस्तक 'Social Organization' में प्रस्तुत की। प्राथमिक समूह से उनका तात्पर्य ऐसे समूह से था जिसके सदस्य आमने सामने एक दूसरे के सम्पर्क में आते हों और जिनके अन्तर्गत हमारे मित्र, साथी, परिवार और प्रतिदिन मिलने वाले लोग हों। यही वे लोग हैं जिनके साथ हमारे घनिष्ठ सम्बन्ध होते हैं।

प्राथमिक समूह का अर्थ

प्राथमिक समूह को पारिभाषित करते हुए स्वंय कूले ने कहा है कि ''प्राथमिक समूहों से हमारा तात्पर्य उन समूहों से है, जिनमें सदस्यों के बीच आमने-सामने के घनिष्ठ सम्बन्ध एवं पारस्परिक सहयोग की विशेषता होती है। ऐसे समूह अनेक अर्थो में प्राथमिक होते हैं, लेकिन विशेष रूप से इस अर्थ में कि ये व्यक्ति के सामाजिक स्वभाव और विचार के निर्माण में बुनियादी योगदान देते हैं।''

आरम्भ में कूले ने 'प्राथमिक समूह' शब्द का प्रयोग केवल खेल के साथियों, परिवार और पड़ोस की प्रकृति को स्पष्ट करने के लिए किया था, लेकिन बाद में इस शब्द का व्यापक रूप से उपयोग किया जाने लगा। उदाहरण के लिए, परिवार इसलिए प्राथमिक समूह है कि इसके सदस्यों के सम्बन्ध सबसे अधिक घनिष्ठ और पारस्परिक त्याग के होते हैं। परिवार के सदस्य ही बच्चे में वे गुण उत्पन्न करते हैं जो उसके व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं। क्रीड़ा-समूह व्यक्ति के विचारों, आदतों और मनोवृत्तियों के निर्माण में सबसे अधिक प्रभावपूर्ण होता है। खेल के साथियों में घनिष्ठता और समीपता के सम्बन्ध होते हैं और उनके द्वारा लगाया जाने वाला प्रत्येक नियन्त्रण प्राथमिक होता है। इसलिए क्रीड़ा समूह भी एक प्राथमिक समूह है। पड़ोस में भी व्यक्तियों के सम्बन्ध आमने सामने के और घनिष्ठ होते हैं, इसीलिए इसे भी प्राथमिक समूह कहा जाता है। इन उदाहरणों के आधार पर प्राथमिक समूह को पारिभाषित

करते हुए लुण्डबर्ग का कथन है कि ‘‘प्राथमिक समूह का तात्पर्य दो या दो से अधिक ऐसे व्यक्तियों से है जो घनिष्ठ, सहभागी ओर वैयक्तिक ढंग से आपस में व्यवहार करते हों।’’

प्राथमिक समूह की विशेषताएँ

प्राथमिक समूह की प्रकृति को इसकी कुछ प्रमुख विशेषताओं के द्वारा अधिक स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है। इन विशेषताओं में कुछ बाह्य और कुछ आन्तरिक हैं।

प्राथमिक समूह की विशेषताएँ या दशाएँ

बाह्य		आन्तरिक
1.	शारीरिक निकटता	1. उद्देश्यों की समानता
2.	छोटा आकार	2. वैयक्तिक सम्बन्ध
3.	स्थायित्व	3. सम्बन्धों में पूर्णता
4.	प्राथमिक नियन्त्रण	
5.	स्वाभाविक सम्बन्ध	
6.	स्वंय साध्य सम्बन्ध	

1. शारीरिक निकटता

प्राथमिक समूह के सदस्य घनिष्ठ तथा आमने-सामने के सम्बन्धों द्वारा बँधे रहते हैं। इन सदस्यों में शारीरिक समीपता के कारण ही अपनेपन की भावना का विकास हो जाता है, जिसके फलस्वरूप समूह अधिक स्थायी रूप ले लेता है।

2. छोटा आकार

प्राथमिक समूहों का आकार अथवा सदस्य-संख्या बहुत सीमित होती है। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, प्राथमिक समूह में सदस्यों का एक-दूसरे को व्यक्तिगत रूप से जानना और उनके समीप रहना आवश्यक है। इसका प्रभाव यह होता है कि समूह की सदस्य संख्या केवल उतनी ही रह पाती है, जिससे सभी व्यक्ति एक-दूसरे के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध रख सके। डेविस ने छोटे आकार को प्राथमिक समूह की सबसे प्रमुख विशेषता माना है।

3. तुलनात्मक स्थायित्व

अन्य समूहों की अपेक्षा प्राथमिक समूह अधिक स्थायी होते हैं। वास्तव में प्राथमिक समूह के सदस्यों के बीच सम्बन्ध इतने अधिक घनिष्ठ और व्यक्तिगत होते हैं कि किसी भी सदस्य के लिए इन समूहों की सदस्यता को छोड़ना बहुत कठिन होता है। इसी विशेषता के कारण ही ये समूह अपनी प्रकृति से अधिक स्थायी होते हैं।

4. उद्देश्यों की समानता

प्राथमिक समूह के सदस्यों में एक-दूसरे के साथ विचार-विमर्श होते रहने से उनका दृष्टिकोण समान बना रहता है और इस प्रकार वे समान उद्देश्यों के द्वारा अपने कार्यो को पूरा करते हैं। यही कारण है कि प्राथमिक समूहों में पारस्परिक मतभेद और संघर्ष की घटनाएँ बहुत कम देखने को मिलती हैं।

5. सम्बन्ध वैयक्तिक होते हैं

प्राथमिक समूह में एक सदस्य का दूसरे से सम्बन्ध व्यक्ति के रूप में होता है, उसके पद अथवा धन के कारण नहीं। उदाहरण के लिए, परिवार में हम किसी व्यक्ति का आदर इसीलिए करते हैं, क्योकि वह हमसे आयु, नातेदारी अथवा अनुभव में बड़ा है, इसीलिए नहीं कि वह धनी है अथवा किसी ऊँचे पद पर आसीन है।

6. सम्बन्ध सम्पूर्ण होते हैं

प्राथमिक समूहों के हमारे सम्बन्ध किसी विशेष उद्देश्य से स्थापित नहीं किये जाते। सम्बन्ध स्थापित कर लेना ही व्यक्ति का लक्ष्य नहीं होता है। इसका तात्पर्य यह है कि प्राथमिक समूह में व्यक्ति जो सम्बन्ध स्थापित करता है, उनका उद्देश्य किसी एक या दो हितों को पूरा करना नहीं होता, बल्कि इनके द्वारा व्यक्ति को जो कुछ भी प्राप्त हो जाता है, वह उसी में सन्तुष्ट रहता है।

7. प्राथमिक नियन्त्रण

ऐसे समूहों में सभी सदस्यों का एक-दूसरे पर प्राथमिक और प्रभावशाली नियन्त्रण होता है। अनुभव बतलाता है कि मनुष्य के जिन व्यवहारों को कानून बिलकुल भी नियन्त्रित नहीं कर सकते, परिवार और क्रीड़ा-समूह के सदस्य उनको पूरी तरह से नियन्त्रण में रखते हैं। इसका कारण प्राथमिक समूह के सदस्यों में पारस्परिक प्रेम, सहानुभूति और त्याग के गुण होना है। व्यक्ति अचेतन रूप से प्राथमिक समूह के सदस्यों के आदेशों का पालन करता रहता है।

8. सम्बन्ध स्वाभाविक होते हैं

प्राथमिक समूह की स्थापना किसी प्रलोभन अथवा दबाव के कारण योजनाबद्ध रूप से नहीं की जाती, बल्कि ये समूह स्वाभाविक रूप से विकसित हो जाते हैं। उदाहरण के लिए, परिवार एक प्राथमिक समूह है जो हजारों वर्षो तक त्रुटि और सुधार की प्रक्रिया के पश्चात् ही वर्तमान रूप में आ सका।

9. सम्बन्ध स्वयं साध्य होते हैं

प्राथमिक समूह के सदस्यों के सम्बन्ध अपने-अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए नही होते हैं। ये सम्बन्ध स्वंय साध्य होते हैं। इससे दोनो पक्षों को मानसिक सन्तोष एवं सुख मिलता है। परिवार के सम्बन्ध ऐसे ही होते हैं। इसी प्रकार साथ खेलने-कूदने वाले और साथ-साथ पढ़ने वाले लोगो की दोस्ती किसी स्वार्थ से नहीं होती बल्कि स्वंय एक साध्य होती है।

प्राथमिक समूहों के कुछ उदाहरण

विभिन्न समाजशास्त्रीयों ने प्राथमिक समूहों के अनेक उदाहण प्रस्तुत किए हैं जिनमें से कुछ प्रमुख निम्नलिखित हैं:

कूले के अनुसार-

(1) परिवार

(2) क्रीड़ा समूह

(3) पड़ोस या समुदाय

मैकाइवर एवं पेज के अनुसार-

(1) परिवार

(2) खेल समूह

(3) मित्र समूह

(4) गपसप समूह

(5) साझेदारी

(6) अध्ययन समूह

(7) गिरोह

(8) जनजातीय परिषद

(9) स्थानीय भाई-चारा

डेविस के अनुसार-

1. परिवार

2. खेल समूह

3. पड़ोस या गाँव

प्राथमिक समूहों का सामाजिक महत्व

किम्बाल यंग (का कथन है कि प्राथमिक समूह मानव संघों के सबसे मौलिक प्रतिनिधि हैं। सम्भवतः ये उतने ही अधिक प्राचीन हैं, जितना कि स्वंय मनुष्य का जीवन। प्राथमिक समूह सबसे सरल रूप में ऐसे समुदायों का निर्माण करते हैं जो सदैव से व्यक्ति की सभी आवश्यकताओं को पूरा करने में सबसे अधिक महत्वपूर्ण सिद्ध हुए हैं।'' इसी आधार पर कूले ने प्राथमिक समूहों को 'मानव-स्वभाव की परिचारिका' कहा है। इस दृष्टिकोण से व्यक्ति और समूह के लिए प्राथमिक समूहों के सामाजिक महत्व को निम्नांकित रूप से स्पष्ट किया जा सकता है-

(1) व्यक्ति का समाजीकरण प्रत्येक मनुष्य में घृणा, लालच, भय, क्रूरता और अनुशासनहीनता की प्रवृत्तियाँ जन्मजात रूप से पायी जाती हैं। प्राथमिक समूह व्यक्ति की समाज-विरोधी मनोवृत्तियों पर नियन्त्रण लगाये रखते हैं और व्यक्ति के सामाजिक नियमों का पालन करने की प्रेरणा देते हैं। इसके फलस्वरूप व्यक्ति सरलतापूर्वक अपनी सामाजिक दशाओं से अनुकूलन कर लेता है।

(2) संस्कृति की शिक्षा - प्राथमिक समूहों को एक प्रमुख कार्य व्यक्ति की अपनी संस्कृति और आदर्श-नियमों से परिचित कराना है। उदाहरण के लिए प्राथमिक समूह ही व्यक्ति को बताते हैं कि उनका धर्म, नैतिकता, लोकाचार, जनरीति परम्पराएँ तथा रीति-रिवाज क्या हैं तथा ये व्यक्ति से किस प्रकार के व्यवहारों की माँग करते हैं। इन सांस्कृतिक नियमों से परिचित होने से ही व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी बन पाता है।

(3) क्षमता और रूचि का विकास - प्राथमिक समूहों के अतिरिक्त दूसरे सभी समूह अपने-अपने स्वार्थों से बँधे रहते हैं जिनके कारण इनके सदस्यों में कुण्ठा, निराशा और कभी-कभी हीनता की भावना पैदा हो जाती है। इसके विपरीत, प्राथमिक समूह अपने सदस्यों से उनकी क्षमता और रूचि के अनुसार ही कार्य लेते हैं। इसके फलस्वरूप प्राथमिक समूह के सदस्यों को अपनी कुशलता और रूचि में वृद्वि करने का ही अवसर नहीं मिलता, बल्कि उनमें आत्मविश्वास की भावना का भी विकास होता है।

(4) भावनात्मक सुरक्षा - केवल प्राथमिक समूह ही एक ऐसा वातावरण बनाते हैं जिसमें व्यक्ति अपने आपको मानसिक रूप से सुरक्षित महसूस करता है। व्यक्ति चाहे बच्चा हो या वृद्ध, शक्तिशाली हो या रोगी, सम्पन्न हो या निर्धन, प्राथमिक समूह उसे सभी तरह की सुविधाएँ प्रदान करके मानसिक रूप से सुरक्षित बनाते हैं।

(5) मनोरंजन की सुविधाएँ - व्यक्ति के लिए स्वस्थ मनोरंजन देने में भी प्राथमिक समूहों ने महत्वपूर्ण कार्य किया है। प्राथमिक समूहों के कार्य अपने आप में ही सुखद होते हैं। इन कार्यों में सभी सदस्य हिस्सा बँटाना चाहते हैं तथा साथ ही ये कार्य शिक्षाप्रद भी होते हैं। प्राथमिक समूह द्वारा दिया जाने वाला यह मनोरंजन अक्सर प्रेरणा, उत्साह, हास्य, व्यंग्य, लोकगाथाओं, परिहास और सांस्कृतिक उत्सवों के रूप में देखने को मिलता है।

(6) मानवीय गुणों का विकास - मेरिल का कथन है कि प्राथमिक समूहों का सबसे महत्वपूर्ण कार्य व्यक्तित्व का विकास करना है। प्राथमिक समूह व्यक्ति में सहानुभूति, दया, प्रेम, सहनशीलता और सहयोग के गुण उत्पन्न करते हैं। इन्हीं गुणों की सहायता से व्यक्ति का सामाजीकरण होता है।

(7) विचारों को स्पष्ट करने की क्षमता का विकास - व्यक्ति अपने जीवन में तभी सफल हो सकता है जब आरम्भ से ही उसमें अपने विचारों को अभिव्यक्त करने की क्षमता और कुशलता पैदा हो जाये। यह कार्य सबसे सुन्दर ढंग से प्राथमिक समूहों के द्वारा ही होता है। उदाहरण के लिए, परिवार ही बच्चे को भाषा का ज्ञान कराता है। भाषा के माध्यम से ही व्यक्ति के विचार बनते हैं और यही विचार उसके व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं।

2. द्वितीयक समूह

साधारण रूप से कहा जा सकता है कि वे सभी समूह द्वैतीयक हैं, जिनमें प्राथमिक समूह की विशेषताएँ नहीं पायी जातीं। ये समूह प्राथमिक समूहों की तुलना में कहीं अधिक बड़े होते हैं और इसके सदस्य एक-दूसरे से सैकड़ों मील दूर रहकर भी अपने बीच सम्बन्धों को बनाये रख सकते हैं। फलस्वरूप द्वैतीयक समूहों के सदस्यों के बीच प्रत्यक्ष सम्बन्धों का होना आवश्यक नहीं होता, बल्कि साधारणतया उनके सम्बन्ध डाक, तार, टेलीफोन और संचार के विभिन्न तरीकों के द्वारा स्थापित होते हैं। द्वैतीयक समूह के सदस्यों में घनिष्ठता का अभाव होने के कारण उनका कार्यक्षेत्र इतना विस्तृत होता है कि एक-दूसरे से प्रत्यक्ष सम्पर्क न रखते हुए भी सभी सदस्य अपने-अपने हितों को पूरा करते रहते हैं। उदाहरण के लिए, वर्तमान समाज में श्रमिक संघ, राजनीतिक दल, व्यापारिक संगठन और विभिन्न सामाजिक वर्ग, द्वैतीयक समूहों के उदाहरण हैं। आधुनिक शिक्षण संस्थाएँ भी द्वैतीयक समूह के उदाहरण हैं जहाँ एक-दूसरे से काफी दूर रहते हुए भी विद्यार्थी पत्राचार पाठ्यक्रम के द्वारा विभिन्न परीक्षाएँ पास कर लेते हैं।

द्वितीयक समूह की परिभाषाएं निम्नलिखित हैं-

कूले ; के अनुसार, ''यह वे समूह हैं जिनमें घनिष्ठता और प्राथमिक विशेषताओं का पूर्ण अभाव होता है।''

डेविस ; के अनुसार, ''द्वितीयक समूह उस सबका विरोधी रूप है, जो प्राथमिक समूहों के बारे में कहा गया है।''

आगबर्न एवं निमकाफ के अनुसार, ''जो समूह घनिष्ठता की कमी का अनुभव करते हैं उन्हें द्वितीयक समूह कहा जाता है।''

स्टिवर्ट ; के अनुसार, ''द्वितीयक समूहों की परिभाषा उन समूहों के रूप में की जा सकती है, जिनका निर्माण विशेष हितों की पूर्ति के लिए किया गया हो तथा जिनकी रूचि अपने सदस्यों में प्रमुखतः उद्देश्यों की पूर्ति हेतु उनके योगदान में हों।''

द्वितीयक समूहों की विशेषताएं

द्वितीयक समूहों की प्रकृति को स्पष्ट करने के लिए उसकी प्रमुख विशेषताओं को समझना आवश्यक है। जो इस प्रकार हैं-

(1) बड़ा आकार - द्वितीयक समूह का आकार बड़ा होता है। आकार बड़ा होने के कारण इनकी सदस्य संख्या लाखो में हो सकती है। जैसे - राज्य, राष्ट्र आदि।

(2) अप्रत्यक्ष एवं अवैयक्तिक सम्बन्ध - द्वितीयक समूह का आकार बड़ा होने से सदस्यों में भौतिक समीपता नही होती है। जिसके कारण सदस्यों के पास्परिक सम्बन्ध अप्रत्यक्ष होते हैं और इनकी स्थापना से संचार के साधनों जैसे- टेलीफोन, रेडियो, पत्र, प्रेस आदि का विशेष महत्व होता है। अप्रत्यक्ष सम्बन्ध होने से सम्बन्ध भी अवैयक्तियक हो जाते हैं। इस प्रकार सदस्यों की व्यक्तिगत घनिष्ठता केवल औपचारिकता तक सीमित रहती है।

(3) ऐच्छिक सदस्यता - प्रायः द्वितीयक समूहों की सदस्यता ऐच्छिक होती है। व्यक्ति अपनी इच्छा से इन समूहों का सदस्य बनता है ओर छोड़ देता है।

(4) स्थायित्व की कमी - ये समूह कम स्थाई होते हैं क्योंकि एक विशेष स्वार्थ के पूरा हाने अथवा न होने की स्थिति मे सदस्य इनकी सदस्यता को कभी भी छोड़ सकते हैं।

(5) योजनाबद्ध व्यवस्था - इन समूहों का निर्माण जान-बूझ कर किया जाता है जिससे व्यक्ति अपने हितों को पूरा कर सके। समाज में कुछ लोग अपने सामान्य उद्देश्यों को पूरा करने के लिए विचार विमर्श कर योजना बद्ध तरीके से इन समूहों का निर्माण करते हैं।

(6) सीमित आवश्यकताओं की पूर्ति- द्वितीयक समूहों में सदस्यों का स्वार्थ बहुत सीमित होता है। ये दूसरे सदस्यों से उतना ही सम्बन्ध रखते हैं जितना उनके स्वार्थो को पूरा करने के लिए आवश्यक होता है।

(7) परिवर्तनशीलता - द्वितीयक समूहों की प्रकृति परिवर्तनशील होती है। इस समूहों का निर्माण व्यक्तियों की आवश्यकताओं के अनुसार होता है। अतः व्यक्तियों की आवश्यकताओं में परिवर्तन होने के साथ इन समूहों के रूप में भी परिवर्तन हो जाता है।

(8) प्रतिस्पर्धा की भावना - इस प्रकार के समूहों में सदस्यों के मध्य प्रतियोगी भावना विद्यमान रहती है। चाहे किसी प्रकार का द्वितीयक समूह हो, व्यक्ति अपनी योग्यता एवं क्षमता को बढ़ाकर सदैव आगे निकलने का प्रयास करता है।

(9) औपचारिक नियम - इस प्रकार के समूह में पद एवं भूमिकाओं में स्पष्ट विभाजन होता है। समूहों का संगठन औपचारिक नियमों से नियमित होता है।

द्वतीयक समूहों के प्रकार

द्वितीयक समूहों को संस्कृति के आधार पर निम्नलिखित प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है-

(क) सांस्कृतिक संगठित समूह

(1) प्रस्थिति समूह - सामाजिक वर्ग, जाति

(2) राष्ट्रीयता समूह - राज्य, राष्ट्र

(3) निवास समूह - विभिन्न समुदाय, विभिन्न शहर, व क्षेत्रीय समूह

(4) रूचि एवं उद्देश्य समूह - विभिन्न धार्मिक समूह, औद्योगिक समूह, श्रमिक संघ, शैक्षिक संगठन, सामुदायिक संगठन, क्लब आदि।

(ख) सांस्कृतिक असंगठित समूह

(1) जैविक समूह - आयु, जाति एवं प्रजाति समूह

(2) सामयिक समूह - भीड़, श्रोता समूह, जनसमूह या सभा आदि।

अर्द्धसमूह

अर्द्धसमूह प्राथमिक एवं द्वितीयक समूहों के मध्य में आते हैं। मारिस गिन्सबर्ग ने अपनी पुस्तक ''सोशियोंलाजी'' में अर्द्ध समूह की व्याख्या की है। उनके अनुसार ऐसे कई मानवीय संकल होते हैं जिनका कोई अन्य ढाँचा नही होता परन्तु उनके सदस्यों में समान रूचियाँ और समान व्यवहार प्रतिमान होते हैं। जिसके फलस्वरूप वे कभी भी वे निश्चित एवं विशिष्ट संगठित समूह का निर्माण कर सकते हैं। ऐसे समूहों को अर्द्धसमूह कहते हैं। उन्होने सामाजिक वर्ग और जनता को अर्द्धसमूह में रखा है।

बाटोमोर ने भी अर्द्धसमूह की व्याख्या की है, उन्होंने समूह के संगठन के आधार पर अर्द्धसमूह को स्पष्ट किया है। उनके अनुसार अर्द्धसमूह में सदस्यों के मध्य मनोवैज्ञानिक चेतना या संगठन का अभाव होता है। उन्होंने ने सामाजिक वर्ग, प्रस्थिति समूह, आयु एवं लिंग समूह आदि को अर्द्धसमूह की श्रेणी में रखा है। क्योंकि इन समूहों के सदस्यों में काफी कुछ समान विशेषता होने के बाद भी परस्पर संगठन एवं जागरूकता का अभाव पाया जाता है। उनके अनुसार जैसे-जैसे ये अर्द्धसमूह संगठित होते जाते हैं वैसे-वैसे ही सामाजिक समूह बनते जाते हैं।

उपर्युक्त विवेचना के आधार पर अर्द्धसमूह की निम्नलिखित विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं-

(1) अर्द्धसमूह के सदस्यों की संख्या अनिश्चत होती है।

(2) अर्द्धसमूह के सदस्यों का कोई निश्चित संगठन नहीं होता है।

(3) अर्द्धसमूह के सदस्यों में किसी न किसी आधार पर समानता पाई जाती है। जैसे- आयु, शिक्षा,, जाति वर्ग, राज्य आदि की।

(4) अर्द्धसमूह के सदस्य व्यापक क्षेत्र मे विस्तृत होते हैं।

(5) अर्द्धसमूह के सदस्यों के मध्य सम्पर्क की निरन्तरता का अभाव पाया जाता है।

7.4 सामाजिक नियन्त्रण मे समूहों की भूमिका

सामाजिक समूहों की धारणा और इसके विभिन्न रूपों को देखने के बाद प्रश्न यह उठता है कि सामाजिक नियन्त्रण के क्षेत्र में इन समूहों की क्या भूमिका है? वास्तविकता यह है कि कोई समूह चाहे प्राथमिक हो अथवा द्वैतीयक वह किसी न किसी क्षेत्र में व्यक्तियों के व्यवहारों को अवश्य ही नियन्त्रित करता है। प्राथमिक समूह घनिष्ठता, स्नेह, प्रेम, त्याग और कल्याण की भावना पर आधारित होने के कारण छोटे-छोटे समुदायों पर नियन्त्रण रखने के अच्छे साधन हैं, जबकि द्वैतीयक समूह औपचारिक नियन्त्रण के द्वारा वर्तमान जटिल समाजों के लिए बहुत प्रभावपूर्ण सिद्ध हुए हैं।

जीवन के आरम्भ से अन्त तक विभिन्न समूह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से व्यक्ति के व्यवहारों पर नियन्त्रण रखते हैं और एक समूह के सभी सदस्यों के व्यवहारों में समानता बनाये रखने का प्रयत्न करते हैं। आरम्भ में हमारे ऊपर

परिवार का प्रभाव सबसे अधिक होता है जो वास्तव में एक छोटा सामाजिक समूह है। इसके उपरान्त खेल के साथियों का समूह और पड़ोस भी आग्रह, प्रशंसा, आरोप तथा दबाव के द्वारा हमारे व्यवहारों को नियन्त्रित करते हैं। कुछ बड़े होने पर अनेक आर्थिक और राजनीतिक संघ अपने विभिन्न नियमों के द्वारा हमारे व्यवहारों पर अंकुश रखने लगते हैं यदि ध्यान से देखा जाय तब स्पष्ट हो जाता है कि एक सामान्य व्यक्ति का जीवन यह समझे बिना ही व्यतीत हो जाता है कि कानून क्या है? इसके बाद भी उसका पूरा जीवन अनुशासित रहता है और वह समाज के नियमों के अनुसार अपना कार्य करता रहता है। ऐसा केवल इसलिए है कि प्रत्येक पग पर कोई न कोई सामाजिक समूह व्यक्तियों के व्यवहारों पर नियन्त्रण लगाये रहता है।

विभिन्न सामाजिक समूह नियन्त्रण की स्थापना में इसीलिए भी महत्वपूर्ण सिद्ध हुए हैं कि उनके द्वारा व्यक्तियों की बहुत सी आवश्यकताएँ पूरी होती हैं। यह स्वाभाविक है कि जिस समूह में हमारी जितनी अधिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती है, उसका हमारे लिए उतना ही अधिक महत्व होता है। परिवार का हमारे ऊपर सबसे अधिक नियन्त्रण इसलिए होता है क्योंकि परिवार ही हमारी जैविकीय और मनोरंजन सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा करता है। इन आवश्यकताओं की पूर्ति किसी भी दूसरे समूह द्वारा नही हो सकती। वास्तव में, विभिन्न समूह हमारे विभिन्न उद्देश्य को पूरा करने के महत्वपूर्ण साधन हैं। व्यक्ति कितना भी मेधावी, पराक्रमी और कार्यकुशल क्यों न हो लेकिन समूहों की अनुपस्थिति में उसका सामाजिक जीवन किसी प्रकार भी सफल नहीं हो सकता। जो समूह जीवन में इतने अधिक महत्वपूर्ण होते हैं, वे निश्चित ही नियन्त्रण की स्थापना में भी महत्वपूर्ण होगें।

समकालीन युग में व्यक्तिवादिता के कारण द्वैतीयक समूहों की संख्या में लगातार वृद्धि होती जा रही है। कुछ क्षेत्रों में यह समूह हानिकारक भी सिद्ध होते हैं, लेकिन सामाजिक नियन्त्रण के क्षेत्र में इनके महत्व की अवहेलना नही की जा सकती। द्वैतीयक समूहों के पास कानून और दण्ड की शक्ति होती है। इन समूहों की सदस्यता प्राप्त करने के बाद व्यक्ति को इनके आदेशों का पालन करना अनिवार्य हो जाता है। जो व्यक्ति इन समूहों के आदेशों का पालन नहीं करते उनके दोषी प्रमाणित होने पर उन्हें राज्य की ओर से दण्ड दिया जाता है। इस प्रकार द्वैतीयक समूहों का प्रमुख कार्य किसी समूह विशेष के हितो की रक्षा करना न होकर, सम्पूर्ण समुदाय के हितो की रक्षा करना होता है। इससे समाज का सम्पूर्ण जीवन नियन्त्रित बना रहता है। वास्तव में विभिन्न समूह समाज की बदलती हुई आवश्यकताओं के अनुसार व्यक्तियों के व्यवहारों में परिवर्तन उत्पन्न करते रहते हैं और इस प्रकार समाज में संगठन बनाये रखने में सहायता देते हैं। यही कारण है कि सामाजिक नियन्त्रण के क्षेत्र में सामाजिक समूहांे को महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता है।

7.5 सारांश

प्रस्तुत इकाई में समूह के प्रकार का अध्ययन किया। समूह के वर्गीकरण में अनेक विद्वानों के वर्गीकरण के विषय में ज्ञान प्राप्त किया जिसमें बोगार्डस, गिलिन एवं गिलिन, गिडिन्स, समनर, मर्टन तथा मैकाइवर एवं पेज, कूले तथा एलवुड के वर्गीकरण के बारे में अध्ययन किया गया है। तत्पश्चात् टानीज, न्यूकाम्ब तथा लेस्टर वार्ड के वर्गीकरण का भी अध्ययन किया।

7.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. समूह से आप क्या समझते है ? समूह के प्रकारों का वर्णन कीजिए।
2. बोगार्डस एवं मिलर के वर्गीरकण को समझाइये।
3. गिडिन्स एवं एलवुड के वर्गीकरण को समझाइये।

4. लेस्टर वार्ड, समनर एवं गिलिन और गिलिन के वर्गीकरण की विवेचना कीजिए।
5. टानीज, राबर्ट के. मार्टन एवं मैकाइवर और पेज के वर्गीकरण की व्याख्या कीजिए।
6. न्यूकाम्ब एवं कूले के वर्गीकरण को समझाइये।

7.7 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. अहूजा, आर (1999) सामाजिक समस्याएं, रावत पब्लिकेशन्सः जयपुर
2. अहूजा, आर. एवं. अहूजा एम. (2008) समाजशास्त्र: विवेचना एवं परिप्रेक्ष्य, रावत पब्लिकेशन्सः जयपुर
3. चन्द्र, एस.एस. (2002) भारतीय सामाजिक संरचना, कनिष्का पब्लिशर्स: नई दिल्ली
4. चन्द्र, एस.एस. (2002) भारत में सामाजिक समस्याएं: कनिष्का पब्लिशर्स: नई दिल्ली
5. दोषी, एस. एल. एवं जैन, पी.सी. (2005) भारतीय समाज, नेशनल पब्लिसिंग हाउसः जयपुर
6. शर्मा, आर.एन.एवं. शर्मा, आर. के. (2002) सामाजिक विघटन, एटलांटिक पब्लिशर्स एवं डिस्ट्रीब्यूटर्स: नई दिल्ली
7. शर्मा, के. एल. (2011) सामाजिक स्तरीकरण, रावत पब्लिकेशन्सः जयपुर
8. राम, एस. पी. (2010) भारतीय सामाजिक समस्याएं: अर्जुन पब्लिशिंग हाउस: नई दिल्ली

इकाई-8

सामाजिक परिवर्तन: अर्थ एंव कारक

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य

8.1 प्रस्तावना

8.2 सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा

8.2.1 सामाजिक परिवर्तन की परिभाषाएं

8.3 सामाजिक परिवर्तन के कारक

8.3.1 सामाजिक परिवर्तन के प्रौद्योगिकीय कारक

8.3.2 सामाजिक परिवर्तन के आर्थिक कारक

8.4 सारांश

8.5 अभ्यासार्थ प्रश्न

8.6 सन्दर्भ ग्रन्थ

8.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के उपरांत आप -

1. सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा को समझ सकेंगे। सामाजिक परिवर्तन की परिभाषाओं का अध्ययन कर सकेंगे।
2. सामाजिक परिवर्तन के कारकों मुख्यतः प्रौद्योगिकीय कारक, आर्थिक कारक, सांस्कृतिक कारक तथा भौतिक कारकों के विषय में विस्तृत जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

8.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में सामाजिक परिवर्तन के विषय में चर्चा की गई है। मानव सभ्यता के प्रारम्भ में परिवर्तन की गति धीमी रही, विकास के साथ-साथ परिवर्तन में तीव्रता आयी है। परिवर्तन के बिना विकास सम्भव नहीं है। इस प्रकार कह सकते है कि सामाजिक संस्थाओं, मूल्यों, नियमों, कार्यविधियों, विचारों आदि में होने वाला कोई भी परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन से है। सामाजिक परिवर्तन का अर्थ, सामाजिक से है, जैसे - समाज का आकार, इसके भागों की बनावट तथा उनमें संतुलन या इसके संगठन के प्रकार। इसके अतिरिक्त सामाजिक परिवर्तन स्वीकृत विधियों में होने वाले परिवर्तनों से है, चाहे वह परिवर्तन भौगोलिक दशाओं के कारण हो, सांस्कृति साधनों, जनसंख्या के रूप में अथवा एक समूह में अविष्कार या सांस्कृतिक प्रसार से उत्पन्न हुए हो।

8.2 सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा

समाज सदैव परिवर्तनशील रहा है। सभ्यता के प्रारम्भ से ही परिवर्तन की प्रक्रिया अनवरत् रूप से चली आ रही है जिसके फलस्वरूप विकास की प्रक्रिया भी चलती रहती है। व्यक्तियों के रहन-सहन, विचारों, मूल्यों में परिवर्तन होते रहते हैं। ये परिवर्तन अनेक कारकों से प्रभावित होते हैं, जिसके कारण इनकी गति धीमी अथवा तीव्र होती रहती है परन्तु किसी काल में सामाजिक परिवर्तन की गति स्थिर नहीं होती हैं। सुख और सुविधाजनक जीवन का प्रयास मानव की प्रकृति में हैं। इसकी खोज में ही समाज निरन्तर विकास करता रहा तथा समाज के अन्दर सामाजिक सम्बन्धों, संस्थाओं, समूहों, सामाजिक संरचना, सामाजिक प्रतिमानों, रीतियों तथा तरीकों में सदैव परिवर्तत होता रहा है। मानव सभ्यता के प्रारम्भ में परिवर्तन की गति धीमी रही, विकास के साथ-साथ परिवर्तन में तीव्रता आयी है। परिवर्तन के बिना विकास सम्भव नहीं है। इस प्रकार हम कह सकते हैं, कि सामाजिक संस्थाओं, मूल्यों, नियमों, कार्यविधियों, विचारों आदि में होने वाला कोई भी परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन है।

8.2.1 सामाजिक परिवर्तन की परिभाषाएं

1. सामाजिक परिवर्तन को अनेक विद्धानों ने परिभाषित करने का प्रयास किया है जिसमें से कुछ प्रमुख परिभाषाएं निम्नवत् हैं-

2. जिन्सबर्ग के अनुसार, ''सामाजिक परिवर्तन का अर्थ, सामाजिक संरचना में परिवर्तन से है, जैसे-समाज का आकार, इसके भागों की बनावट तथा उनमें सन्तुलन या इसके संगठन के प्रकार।''

3. गिलिन और गिलिन के अनुसार, ''सामाजिक परिवर्तन का अर्थ स्वीकृत विधियों में होने वाले परिवर्तनों से है, चाहे वह परिवर्तन भौगोलिक दशाओं के कारण हो, सांस्कृतिक साधनों, जनसंख्या के रूप में अथवा एक समूह में अविष्कार या सांस्कृतिक प्रसार से उत्पन्न हुए हों।''

8.3 सामाजिक परिवर्तन के कारक

8.3.1 सामाजिक परिवर्तन के प्रौद्योगिकीय कारक

सभ्यता के प्रारम्भ से ही मानव अपने कार्यों को आसान बनाने, जीवन को सुखमय बनाने और मानव श्रम को कम करने के लिसे प्रायासरत् रहा है। इसी प्रयास में, वह अनेक नवीन साधनों, यन्त्रों व तकनीकी का प्रयोग करता रहा है। जिससे नित नयी प्रौद्योगिकी का आविष्कार व विकास होता गया। वर्तमान समय में प्रौद्योगिकी का विकास इतना अधिक हो गया है कि वह मानव जीवन के प्रत्येक पक्ष को प्रभावित कर रहा है। जिन देशों में आज प्रौद्योगिकी का विकास जितना अधिक हो गया है वे उतने ही विकसित हो गये हैं तथा सम्पूर्ण संसार का नेतृत्व कर रहे हैं। प्रौद्योगिकी के विकास से उत्पादन के तरीकों, संस्थागत नियमों, व्यवहारों, सामाजिक सम्बन्धों, परिवार की संरचना और मनोवृत्ति, आदि में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो रहे हैं। ये परिवर्तन हमारे परिवारों, ग्रामीण व शहरी समुदायों, सामाजिक मूल्यों आदि को प्रभावित कर रहे हैं, जिससे लोगों के सोचने के तरीके, रहन-सहन, विचारधारायें, दृष्टिकोण व नजरिये में तेजी से परिवर्तन हो रहा है। प्रौद्योगिकी के विकास ने गत् 100 वर्षों में इतना अधिक सामाजिक परिवर्तन किया है, जितना कि विगत् 1000 वर्षों में नहीं हुआ था।

प्रौद्योगिकी का अर्थ

मानव द्वारा अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिये प्रयोग किए गए तरीकों, साधनों, यन्त्रों व ज्ञान को प्रौद्योगिकी कहते हैं। प्रौद्योगिकी की प्रकृति स्थिर नहीं होती, इसमें सदैव परिवर्तन व विकास की सम्भावनाएं रहती है।

कार्ल माक्र्स के अनुसार, ''प्रौद्योगिकी, प्रकृति के साथ मनुष्य के व्यवहार करने के ढ़ंग तथा उत्पादन करने के उस तरीके को व्यक्त करती है, जिसके द्वारा व्यक्ति जीवित रहता है और अपने सामाजिक सम्बन्धों तथा मानसिक धारणाओं के रूप में निर्धारित करता है।''

प्रो. सरन के अनुसार, ''किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये, अप्रत्यक्ष तथा उच्च श्रेणी के साधनों की व्यवस्था को हम प्रौद्योगिकी कहते हैं।''

प्रौद्योगिकी का समाज पर प्रभाव

प्रौद्योगिकी निरन्तर परिवर्तित होती रहती है और इसमें होने वाला परिवर्तन जीवन के अनेक क्षेत्रों को प्रभावित करता है। प्रौद्योगिकी निम्नवत् रूप से समाज को प्रभावित कर सामाजिक परिवर्तन की स्थिति उत्पन्न करती है:

1. सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन

प्रौद्योगिकी के विकास ने सामाजिक सम्बन्धों में गतिशीलता ला दी है। प्रारम्भ में उत्पादन के तरीके सरल थे। कृषि से लोगों की आवश्यकताएं पूर्ण होती थीं। लोगों के सामाजिक सम्बन्धों का दायरा भी सीमित था। औद्योगीकरण ने व्यक्ति के जीवन में बहुत सी नयी परिस्थितियाँ उत्पन्न की। उदाहरण स्वरूप जीविकोपार्जन के लिये उद्योगों व कारखानों में बहुत से लोगों के साथ कार्य करने के अवसर मिले तथा नये सामाजिक सम्बन्धों का निर्माण हुआ। इसी प्रकार व्यवसाय व बाजार में भी अधिकाधिक लोगों से सम्पर्क करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त प्रौद्योगिकी के कारण तीव्र यातायात के साधनों का विकास हो गया है, जिससे लोग सम्बन्धियों के यहाँ आसानी से पहुँच जाते हैं। वर्तमान में, व्यक्ति के प्राथमिक समूहों के सम्बन्धों व द्वितीयक समूहों के सम्बन्धों में गतिशीलता व जटिलता आ गयी है।

2. ग्रामीण जीवन में परिवर्तन

औद्योगिक क्रान्ति ने शान्त और सुस्त ग्रामीण जीवन में नयी ऊर्जा भर दी है। गाँवों में सूचना, संचार, मनोरंजन व कृषि की नयी तकनीकी पहुँच जाने से लोगों में जागरूकता बढ़ी है। उनके परम्परागत विचारों और व्यवहार के ढ़ंगों में परिवर्तन हो गया है। अब व्यक्ति समस्या के कारणों को दैवी प्रकोप न मानकर, तार्किक दृष्टिकोण से सोचता है तथा समाधान के लिये नवीन प्रौद्योगिकी द्वारा उपलब्ध साधनों का उपयोग करता है। इस प्रौद्योगिकी के उपयोग से ग्रामीण विकास को बल मिला है तथा ग्रामीण जीवन पहले से बेहतर हो गया है।

3. श्रमिक वर्ग में परिवर्तन

प्रौद्योगिकी की उन्नति से उद्योगों को बढ़ावा मिला, जिससे कार्य करने के अधिकाधिक अवसर उपलब्ध हुये और लाखों व्यक्ति औद्योगिक श्रमिकों के रूप में कार्य करने लगे है। इन औद्योगिक श्रमिकों में कार्य के घन्टों का महत्व, अपने अधिकारों की चेतना व संगठन के प्रति जागरूकता पायी जाती है, जिससे कि असंगठित श्रमिकों की अपेक्षा औद्योगिक श्रमिकों के शोषण में कमी और कार्य की दशाओं में सुधार हुआ है। इस प्रकार प्रौद्योगिकी ने समाज के एक बड़े वर्ग की स्थिति में परिवर्तन किया है।

4. कार्य का विशेषीकरण

प्रौद्योगिकी के विकास के कारण उत्पादन कार्य बड़ी-बड़ी मशीनों से किया जाने लगा, जिसमें कार्य करने वाले श्रमिकों के लिये विशेष शिक्षण व प्रशिक्षण आवश्यक हो गया। प्रत्येक कार्य के लिये शारीरिक श्रम के अतिरिक्त विशेष ज्ञान व दक्षता की भी आवश्यकता पड़ने लगी। इस प्रकार विशेष कार्य के लिये विशेष श्रमिकों की

आवश्यकता पड़ने लगी तथा श्रम का स्वरूप बदल गया। दुर्खीम के अनुसार, "श्रम वास्तव में समाज की आधारभूत इकाई है और इसका प्रौद्योगिकी से घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण प्रौद्योगिकी में होने वाला प्रत्येक परिवर्तन 'श्रमिकों की दशाओं' तथा दूसरे शब्दों में समाज को परिवर्तित कर देता है।"

5. गतिशीलता में वृद्धि

प्रौद्योगिकी के विकास ने विश्व में व्यक्तियों के मध्य दूरियाँ कम कर दी हैं। यातायात व संचार के साधनों द्वारा व्यक्ति कुछ ही समय में एक स्थान से दूसरे स्थान जा सकता है तथा कुछ ही क्षणों में विश्व में किसी से भी सम्पर्क कर सकता है। प्रौद्योगिकी की इस देन से समाज में गतिशीलता बढ़ी है तथा विश्व समुदाय में आपस में अधिकाधिक सम्पर्क होने लगे हैं, जिससे लोगों को अन्य समूहों के विचारों, संस्कृति आदि का जानना सुलभ हो गया है। इस प्रकार अधिकांश व्यक्ति दूसरे स्थानों की विशेषताओं व विचारों से परिचित होने लगे। इस स्थिति ने सामाजिक परिवर्तन को प्रोत्साहित किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं, कि प्रौद्योगिकी के परिवर्तन ने सामाजिक जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन किये हैं। प्रौद्योगिकी के कारण गत् एक शताब्दी में सामाजिक जीवन में इतने परिवर्तन हुये हैं, जितने विगत् दस शताब्दियों में नहीं हुये थे, परन्तु प्रौद्योगिकी का विकास ही सामाजिक परिवर्तन का एक मात्र कारक नहीं है क्योंकि प्रौद्योगिकी हमारे भौतिक पर्यावरण, विचारों और सामाजिक सम्बन्धों को प्रभावित करती है, वहीं हमारी संस्कृति, समाज की संरचना और भौतिक पर्यावरण भी प्रौद्योगिकी के रूप का निर्धारण करता है। अतः हम कह सकते हैं कि प्रौद्योगिकी सामाजिक परिवर्तन के अन्य कारकों की भाँति एक परस्पर निर्भर किन्तु सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारक है।

8.3.2 सामाजिक परिवर्तन के आर्थिक कारक

व्यक्ति की आर्थिक स्थिति में उतार-चढ़ाव, उसके रहन सहन, जीवन स्तर, उनकी अभिवृत्तियों, प्रथाओं, जनरीतियों व रीति-रिवाजों को प्रभावित करती है, जिसके फलस्वरूप उसके व्यवहार व सामाजिक संरचना में भी परिवर्तन होता है। अनेक अध्ययनों से भी यह पाया गया है कि समाज में लोगों की आर्थिक उन्नति और अवनति सामाजिक परिवर्तन का एक कारक है। आर्थिक पक्ष, प्रत्येक समाज का एक महत्वपूर्ण घटक है तथा यह समाज के सदस्यों के दिन-प्रतिदिन के जीवन को प्रभावित करता है। निम्नलिखित आर्थिक दशायें सामाजिक परिवर्तन को प्रभावित करती हैं:

1. उच्च जीवन स्तर के लिये आवश्यक

उच्च जीवन स्तर से तात्पर्य जीवन से सम्बन्धित सुविधाओं तथा वस्तुओं की पर्याप्त मात्रा में, उपलब्धता एवं उनका दैनिक जीवन में उपयोग से है। ये सभी सुविधाएं एवं वस्तुएं व्यक्ति को धन से ही प्राप्त होती है। इसी कारण धनी व्यक्तियों का जीवन स्तर प्रायः उच्च पाया जाता है तथा निर्धन व अभावग्रस्त व्यक्ति निम्न जीवन स्तर की श्रेणी में आ जाते हैं। उच्च जीवन स्तर प्राप्त करने के लिये मानव सदैव प्रयत्नशील रहता है। अपनी आर्थिक स्थिति को और बेहतर करने के लिये व्यक्ति परिश्रम करता है। वह नैतिकता, सामाजिक मूल्यों, अतार्किक व्यवहारों, प्रथाओं और लोकाचारों की उपेक्षा आर्थिक स्वार्थों को अधिक महत्व देने लगता है। इस प्रकार व्यक्ति अपनी आर्थिक स्थिति में परिवर्तन के प्रयास में सामाजिक परिवर्तन की भी स्थिति ला देता है।

2. औद्योगीकरण एवं उत्पादन का स्वरूप

औद्योगीकरण का उद्देश्य अधिक से अधिक उत्पादन करना और अधिक से अधिक आर्थिक लाभ प्राप्त करना है। अधिक से अधिक उत्पादन की प्रवृत्ति ने कुशल श्रमिकों को रोजगार के अपार अवसर उपलब्ध कराये तथा बाजार

में भी व्यक्तियों के कार्य की संलग्नता बढ़ी। वास्तव में औद्योगीकरण ने श्रम के महत्व को और अधिक स्पष्ट किया तथा लोगों की आर्थिक स्थिति में सुधार किया है। इसी प्रकार व्यापक औद्योगीकरण के फलस्वरूप श्रमिक वर्ग को संगठित स्वरूप मिला, जो अपने अधिकारों और लाभ के प्रति अधिक सचेत रहने लगा तथा जन सामान्य की जागरूकता में वृद्धि हुई। उसके विचारों व मनोवृत्तियों में परिवर्तन हुये, उनके व्यवहारों, वेश-भूषा, खान-पान, शिष्टता के ढंगों में व्यापक परिवर्तन हुये।

3. वितरण की समस्या

वितरण व्यवस्था से तात्पर्य, आवश्यक वस्तुओं व संसाधनों का समाज के व्यक्तियों में विभाजन पद्धति से है। प्रारम्भ में व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति, वस्तुओं के आदान-प्रदान से करते थे, बाद में वस्तुओं को प्राप्त करने का साधन मुद्रा ने ले लिया तथा इसमें राज्य का हस्तक्षेप हो गया। राज्य का कार्य आर्थिक संसाधनों को समान रूप से वितरित करने का होता है, जिससे कि समाजवाद को बढ़ावा मिले। स्वतंत्रता के पश्चात हम जैसे-जैसे समाजवादी दिशा की ओर बढ़ रहे हैं, सामाजिक परिवर्तन में भी तीव्रता आती जा रही है।

4. आर्थिक नीतियां

किसी देश की आर्थिक नीतियों का निर्धारण राज्य द्वारा किया जाता है। आर्थिक नीतियाँ राजस्व, उत्पादन व अर्थव्यवस्था को नियंत्रित करती हैं परन्तु इनका प्रभाव सामाजिक व्यवस्था पर प्रत्यक्ष रूप से पड़ता है। उदाहरण स्वरूप यदि राज्य स्वतंत्र अर्थव्यवस्था के स्थान पर नियंत्रित अर्थव्यवस्था को महत्व देने लगें तो सामाजिक व्यवस्था में सभी वर्गों को समान अधिकार प्राप्त होने लगते हैं, समृद्ध वर्ग का एकाधिकार कम हो जाता हैं, सामाजिक संस्थायें रूढ़िवादिता के घेरे से बाहर निकलने लगती हैं, सामाजिक स्तरीकरण मुक्त स्वरूप ग्रहण कर लेता है तथा सामाजिक सम्बन्धों का क्षेत्र व्यापक बनने लगता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आर्थिक कारक सामाजिक जीवन को बहुत प्रभावित करता हैं। व्यक्ति की आय में परिवर्तन, उसके सामाजिक सम्बन्धों, संस्थाओं, नियंत्रण के स्वरूपों, मनोवृत्तियों, व्यवहार के प्रतिमानों में परिवर्तन ला देते हैं। आर्थिक कारक इसी प्रकार समस्त समाज को प्रभावित करते हैं तथा सामाजिक परिवर्तन को प्रोत्साहित करते हैं।

8.3.3 सामाजिक परिवर्तन के सांस्कृतिक कारक

संस्कृति का अर्थ भौतिक व अभौतिक तत्वों की उस जटिल सम्पूर्णता से है, जिसका निर्माण व्यक्ति ने सैकड़ों वर्षों में सभ्यता के विकास के साथ किया है तथा जिसे वह पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित करता आया है। व्यक्ति जीवनपर्यन्त संस्कृति के मध्य रहता है तथा समाजीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से संस्कृति से समायोजन करता रहता है। संस्कृति भी नवीन परिस्थितियों आवश्यकताओं और मनोवृत्तियों के अनुरूप अनुकूल करती रहती है। इस प्रकार संस्कृति में भी आंशिक परिवर्तन होता रहता है। संस्कृति में होने वाला यही परिवर्तन, सामाजिक परिवर्तन का एक प्रमुख आधार है। सांस्कृतिक परिवर्तन की निम्नलिखित दशायें सामाजिक परिवर्तन को प्रभावित करती हैं:

1. सांस्कृतिक पिछड़

संस्कृति के भौतिक तत्वों में अभौतिक तत्वों की अपेक्षा तीव्रता से परिवर्तन होते हैं। उदाहरण स्वरूप जीवनोपयोगी वस्तुओं, खेती, उद्योग के ढंग, रहन-सहन खाना बनाने के तरीके, यन्त्र आदि में बहुत तेजी से परिवर्तन होते हैं। दूसरी ओर संस्कृति के अभौतिक तत्व-लोकाचार, विश्वास, प्रथाओं आदि में अपेक्षाकृत धीमी

गति से परिवर्तन होते हैं। सामान्यतः सामाजिक संस्थायें संस्कृति के अभौतिक पक्ष हैं, जो पुराने सामाजिक मूल्यों पर आधारित होती हैं, इसलिये वे परिवर्तन का विरोध करती हैं। इस प्रकार ऐसी दशायें उत्पन्न हो जाती हैं कि संस्कृति का एक पक्ष दूसरे से पीछे रह जाता है। इस स्थिति को ब्नसजनतंस सृंह या सांस्कृतिक पिछड़ कहते हैं। सांस्कृति पिछड़ से समाज में असन्तुलन दशाएं उत्पन्न हो जाती हैं। प्रत्येक व्यक्ति इन दशाओं से अनुकूलन व समायोजन का प्रयत्न करता है, जिससे व्यक्तियों की मनोवृत्तियों, व्यवहार के ढ़ंगों और रहन-सहन पर इसका प्रभाव पड़ता है और सामाजिक परिवर्तन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

2. प्रौद्योगिकी पिछड़

प्रौद्योगिकी पिछड़ का अर्थ, संस्कृति के भौतिक तत्वों के विभिन्न भागों में उत्पन्न होने वाली असन्तुलन की स्थिति और उसका सामाजिक परिवर्तन पर पड़ने वाले प्रभाव से है। उदाहरण- प्रौद्योगिकी की उन्नति से कृषि व अन्य वस्तुओं का उत्पादन कई गुना बढ़ जाये परन्तु नये गोदामों का निर्माण न हो। आधुनिक तकनीकी की नई कारें आ जायें, परन्तु सड़कों व ट्रैफिक की स्थिति में सुधार न हो, पर्यावरण व वन सम्पदा का अधिकाधिक उपयोग हो रहा हो, परन्तु उतनी ही कुशलता से जंगल की देखभाल व अनुरक्षण न हो रहा हो। स्वाभाविक है कि ऐसी स्थितियों से उत्पादन की सम्पूर्ण प्रक्रिया के विकास में बाधा पड़ेगी जो किसी न किसी रूप में आर्थिक सम्बन्धों को प्रभावित करेंगे, जिनसे अनुकूल के भी प्रयत्न किये जायेंगे। ये समस्त क्रियायें, प्रक्रियायें सामाजिक संगठन को प्रभावित करके परिवर्तन की स्थिति उत्पन्न करती है।

3. प्रौद्योगिकी प्रतिरोध

प्रौद्योगिकी प्रतिरोध शब्द का प्रयोग उस स्थिति के लिये किया जाता है जबकि पहले से ही स्थापित कुछ स्वार्थों के कारण व्यक्ति उत्पादन के नये उपकरणों, पद्धतियों, एजेन्सियों तथा आधुनिक कुशल साधनों का बहिष्कार करते हैं अथवा उनकी प्रगति रोकने का प्रयत्न करते हैं। मैकाइवर के अनुसार ऐसे तीन प्रमुख प्रतिरोध हैं:

(i) नौकरशाही द्वारा स्वार्थ निर्धारित प्रतिरोध

परम्परागत व्यवस्था में अधिकारी/कर्मचारी हस्तक्षेप हर स्तर पर होता है। नयी तकनीकी में पारदर्शिता अधिक है। अतः निहीत स्वार्थवश शासन व प्रशासन में संलग्न व्यक्ति कुशल विधियों का विरोध करते हैं।

(ii) आर्थिक स्वार्थ द्वारा निर्धारित प्रतिरोध

कुछ व्यक्ति नयी प्रविधियों का विरोध इसलिये करते हैं जिससे उनके लाभ की मात्रा कम न हो। उदाहरण- श्रमिक वर्ग नयी मशीनों का विरोध इसलिये करते हैं कि श्रमिकों की संख्या कम न हो जाये। इसी प्रकार व्यापारी नये नियमों का विरोध इसलिये करते हैं कि उनके लाभ की मात्रा कम हो जायेगी तथा कर्मचारियों को सुविधायें देनी पड़ेंगी।

(iii) सांस्कृतिक स्वार्थ द्वारा निर्धारित प्रतिरोध

किसी समाज में जब कोई ऐसी प्रविधि प्रवेश करती है जो उसकी पुरानी परम्पराओं व प्रथाओं के विरूद्ध हो, उसका सर्वप्रथम विरोध होता है। उदाहरण स्वरूप हमारे देश में प्राचीन काल से बच्चों के जन्मों का स्वागत किया जाता रहा है, परन्तु बदली हुयी परिस्थितियों में जब बच्चे के जन्मों को रोकने के लिये गर्भ निरोधकों का प्रचलन प्रारम्भ हुआ, तो यह हमारी संस्कृति व परम्परा के विपरीत महसूस किया गया तथा इसका विरोध

हुआ। इसी प्रकार कुटीर उद्योगों के स्थान पर, भारी उद्योगों के आगमन पर भी भारी उद्योगो को विरोध का सामना करना पड़ा।

4. सांस्कृतिक संघर्ष

जब एक देश में अन्य स्थानों से अन्य संस्कृति के लोग आकर बसते हैं, तो सांस्कृतिक भिन्नता के कारण संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होती है तथा कभी-कभी स्थिति गृह युद्धों व क्रान्ति तक पहुँच जाती है। सांस्कृतिक संघर्ष के उपरान्त व्यक्ति नवीन परिस्थितियों से सामन्जस्य स्थापित करने का प्रयास करता है। वह नयी परिस्थितियों में नये सिरे से जीवन से अनुकूलन का प्रयास करता है। फलस्वरूप सामाजिक परिवर्तन हेतु वातावरण उत्पन्न हो जाता है।

5. सांस्कृतिक उभयवृत्तिता

व्यक्ति को नये जीवन के प्रारम्भ से ही अपनी संस्कृति के साथ-साथ अन्य संस्कृतियों के प्रतिमानों का सामना भी करना पड़ता है, जब व्यक्तिगत रूप से वह इस स्थिति से समायोजन करने में असफल हो जाता है तो इस स्थिति को सांस्कृतिक उभयवृत्तिता कहते हैं। इस स्थिति में व्यक्ति के विश्वासों, सामाजिक मूल्यों, विभिन्न नियमों व सामाजिक सम्बन्धों में घनिष्ट सम्बन्ध होता है। विश्वासों और संस्थाओं में होने वाला कोई भी परिवर्तन सामाजिक सम्बन्धों को प्रभावित करके सामाजिक परिवर्तन की स्थिति उत्पन्न करता है।

8.3.4 सामाजिक परिवर्तन के शैतिक कारक

शिक्षा व्यक्ति में एक ऐसे परिवर्तन को जन्म देती है, जिससे उसका बौद्धिक एवं आध्यात्मिक विकास होता है तथा वह समाज के विभिन्न निर्णायक तत्वों के बारे में ज्ञान प्राप्त कर लेता है। एक शिक्षित व्यक्ति अपने सामने उपस्थित समस्याओं का समाधान अधिक सफलता के साथ कर लेता है तथा वह भविष्य की गतिविधियों के बारे में अनुमान लगाकर अपनी योजनाओं व व्यवहार का निर्धारण करता है। इसी कारण शिक्षित व्यक्ति लोकाचार में अधिक सफल होते हैं तथा उनमें जागरूकता अधिक पायी जाती है।

शिक्षा एक ऐसा कारक है जो सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को और तेज कर देता है। शिक्षा से व्यक्ति का जहाँ नैतिक तथा आध्यात्मिक विकास होता है, उसमें आत्म नियंत्रण तथा संयम बढ़ता है वहीं इसके द्वारा समाज में भौतिक समृद्धता भी सम्भव हो पाती है। शिक्षा का सामाजिक परिवर्तन में निम्नवत् प्रमुख योगदान है:

1. परिस्थितियों से सामंजस्य

शिक्षा व्यक्ति को इस योग्य बनाती है कि व्यक्ति बदली हुयी परिस्थितियों से अनुकूलन कर सके। शिक्षा द्वारा व्यक्ति को किसी भी परिस्थिति के बारे में तार्किक एवं वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त होता है तथा उसे बदली हुयी परिस्थिति में अपने विचारों, मूल्यों व व्यवहार में परिवर्तन कर सामंजस्य स्थापित करने को प्रेरित किया जाता है। व्यक्ति का यह व्यवहार सामाजिक परिवर्तन को प्रोत्साहित करता है।

2. संस्कृति का संचरण

संस्कृति का संचरण शिक्षित समुदाय में अधिक प्रभावकारी ढंग से होता है। एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में सांस्कृतिक तत्वों का हस्तान्तरण भी शिक्षित व्यक्तियों में अधिक होता है। संस्कृति का संचरण सुगम होने से जहाँ एक ओर व्यक्ति को परम्पराओं की जानकारी होती है वहीं दूसरी ओर शिक्षित व्यक्ति इसमें यथा आवश्यक परिवर्तन करके अंगीकृत करता है।

3. सामाजिक संतुलन

शिक्षा द्वारा परम्परागत व्यवहारों को अपनाये जाने के साथ-साथ वर्तमान व्यवस्था के व्यवहारों से सन्तुलन बनाये रखा जाता है जिससे परिवर्तन सुगम हो जाता है। कार्ल मैनहीम के अनुसार समाज की संरचना सदैव परिवर्तन के ही प्रक्रम में नहीं अपितु बहुत कुछ संतुलन पर भी आधारित रहती है।

4. सहयोग की भावना

परिवर्तित समाज में सामाजिक संगठन की सुदृढ़ता आवश्यक है। सामाजिक संगठन के लिये आपसी सहयोग होना आवश्यक है। शिक्षा का उद्देश्य समाज में सृजनात्मक प्रवृत्तियों को बढ़ावा देना है। शिक्षित समाज में सहयोग की भावना अधिक होती है तथा सामाजिक परिवर्तन आसानी से होता है।

5. तार्किक शक्ति का विकास

शिक्षा के द्वारा, वास्तविक ज्ञान का अध्ययन कर व्यक्ति अपने व्यवहारों को तर्कपूर्ण बनाता है। शिक्षा के ही कारण व्यक्ति किसी ज्ञान को प्राप्त करने के लिये उसकी उचित अध्ययन विधि को अपनाता है। समाज की वास्तविक स्थिति क्या है समाज के परिवर्तन की दिशा क्या है, आदि बातों की जानकारी शिक्षा के द्वारा ही कराई जाती है, ताकि व्यक्ति उसके अनुरूप व्यवहार कर सके।

इस प्रकार शिक्षा लोगों की मनोवृत्तियों में परिवर्तन लाकर उन्हें उस प्रकार के व्यवहार के लिये प्रेरित करती है जो व्यवहार सामाजिक परिवर्तन में सहयोग प्रदान करते हों। शिक्षा समाज के प्रचलित मूल्यों में वांछनीय मोड़ देकर समाज को नये उद्देश्यों के प्रति अधिक सक्रिय बनाती है। शिक्षा एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत व्यक्ति सहनशीलता ग्रहण कर, एक तार्किक व्यक्ति के रूप में उभरता है। शिक्षा व्यक्ति को उसकी भूमिका के बारे में भी सजग करती है तथा सामाजिक परिवर्तन को सदैव प्रोत्साहित करती है।

8.4 सारांश

प्रस्तुत इकाई में सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा, अर्थ एवं परिभाषाओं का अध्ययन किया है। सामाजिक परिवर्तन के कारकों के विषय में जानकारी प्राप्त की है। सामाजिक परिवर्तन के प्रौद्योगिकीय, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं भौतिक कारकों के विषय में भी अध्ययन किया है।

8.5 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. सामाजिक परिवर्तन से आप क्या समझते है ? परिभाषित कीजिए।
2. सामाजिक परिवर्तन के विभिन्न कारकों का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।
3. सामाजिक परिवर्तन के प्रौद्योगिकी कारक की व्याख्या कीजिए।
4. सामाजिक परिवर्तन के सांस्कृतिक एवं भौतिक कारक की विवेचना कीजिए।
5. सामाजिक परिवर्तन के आर्थिक कारक का वर्णन कीजिए।

8.6 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. दोषी, एस. एल. एवं जैन, पी.सी. (2005) भारतीय समाज, नेशनल पब्लिसिंग हाउसः जयपुर
2. शर्मा, आर.एन.एवं. शर्मा, आर. के. (2002) सामाजिक विघटन, एटलांटिक पब्लिशर्स एवं डिस्ट्रीब्यूटर्स: नई दिल्ली
3. शर्मा, के. एल. (2011) सामाजिक स्तरीकरण, रावत पब्लिकेशन्सः जयपुर
4. राम, एस. पी. (2010) भारतीय सामाजिक समस्याएं: अर्जुन पब्लिशिंग हाउस: नई दिल्ली
5. सिंह, डी. के., पालीवाल, एस एवं मिश्र, आर. (2010) मानव समाजः संगठन एवम् विघटन के मूल तत्वः न्यू राॅयल बुक कम्पनीः लखनऊ
6. सिंह, ए. के. (2009) उच्चतर सामान्य मनोविज्ञान, मोतीलाल बनारसीदास: नई दिल्ली
7. सिंह एस. के. (2010) जाति व्यवस्था: निरंतरता एवं परिवर्तन, रावत पब्लिकेशनः जयपुर
8. मिश्र, पी.डी. (2003) व्यक्ति और समाज, न्यू राॅयल बुक कम्पनी: लखनऊ
9. मिश्र, पी.डी. एवं मिश्रा बी. (2004) सोशल वर्क प्रोफेशन इन इण्डिया, न्यू राॅयल बुक कम्पनी: लखनऊ
10. महाजन, एस. (2010) सामाजिक समस्याएं, अर्जुन पब्लिसिंग हाउसः नई दिल्ली
11. यादव आर. (2005) सामाजिक समस्याएं, अर्जुन पब्लिशिंग हाउसः नई दिल्ली

इकाई-9

संस्कृति

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य

9.1 प्रस्तावना

9.2 संस्कृति

9.3 संस्कृति की विशेषताएं

9.4 संस्कृति की प्रकृति

9.5 संस्कृति के मूल तत्व

9.6 सारांश

9.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

9.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

9.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप-

1.संस्कृति के अर्थ, परिभाषा तथा अवधारणा के विषय में ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

2. संस्कृति की विशेषताओं को समझ सकेंगे। इसके पश्चात् संस्कृति की प्रकृति के विषय में ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

3. संस्कृति के तत्वों के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे। संस्कृति के तत्वों में भाषा, भौतिक तत्व व वस्तुएं, सामंजस्य, मूल्य तथा आदर्श के विषय में जान सकेंगे।

9.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में संस्कृति पर विचार किया गया है। संस्कृति से तात्पर्य एक ऐसे तत्व से है जो व्यक्ति को परिष्कृत करती है। संस्कृत शब्द संस्कार से बना है जिसका तात्पर्य शुद्धि की क्रिया से है। अर्थात् संस्कृति के द्वारा व्यक्ति को जन्म से जैविकीय प्राणी होता है। सामाजिक प्राणी के रूप में समुच्चय है, जिनमें मनुष्य, एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक सीखने के कारण रहता है। संस्कृति में जो तत्व सम्मिलित है उनके अनुसार इसके अंदर जोड़ो और समूहों के रूप में लोगों के सम्बंध, मनुष्य के कार्य जिनमें भौतिक पदार्थ भी है और लाक्षणिक संकेतों के क्षेत्र में अपनी शक्ति का व्यव जिसमें भाषा, संगीत, कला में और मानव शरीर भी सम्मिलित है।

9.2 संस्कृति

संस्कृति शब्द संस्कृत से निकला हुआ प्रतीत होता है। संस्कृत का तात्पर्य परिष्कृत है। इस अर्थ में संस्कृति का तात्पर्य एक ऐसे तत्व से है जो व्यक्ति को परिष्कृत करती है। कुछ विचारकों का मत है कि संस्कृत शब्द संस्कार से बना है जिसका तात्पर्य शुद्धि की क्रिया से है। अर्थात् संस्कृति के द्वारा व्यक्ति जो जन्म से जैविकीय प्राणी होता है सामाजिक प्राणी के रूप में परिवर्तित किया जाता है।

संस्कृति समस्त भौतिक एवं अभौतिक तथ्यों की वह समग्रता है, जिसकी व्यक्ति समाज में सामाजिक प्राणी बनता है। संस्कृति केाई दैवी शक्ति न होकर मनुष्य की ही सृष्टि है और इसका निरन्तर अस्तित्व मनुष्यों द्वारा अतीत की विरासत के प्रतीकात्मक संचार पर निर्भर है। वह केवल भिन्न-भिन्न व्यवहारों का समूह मात्र ही नहीं है, अपितु व्यवहारों के पारस्परि सम्बन्धों और संगठन द्वारा बनी हुई नवीन व्यवस्था है। संस्कृति नित-प्रतिदिन परिवर्तित होती रहती है। नए व्यवहार, नए विचार और नए अविष्कारों के आने से इसकी अभिवृद्धि और समृद्धि होती रहती है, इसीलिए संस्कृति कभी भी स्थिर नहीं रहती। संस्कृति में व्यवस्था रहती है, इसी संस्कृति के एक तत्व के बदलने से दूसरे तत्वों में भी परिवर्तन हो जाना स्वभाविक है।

9.2.1 संस्कृति की परिभाषा

संस्कृति की अनेक परिभाषाएं हैं। जो कि निम्नवत् हैं तथा संस्कृति के अन्दर छिपे हुए अनेक तत्वों पर प्रकाश डालती हैः-

टाइलर के अनुसार, ''संस्कृति वह संश्लिष्ट अभियोजना है, जिसमें समाजगत ज्ञान, विश्वास, कला, नैतिकता, विधि (कानून), रस्म-रिवाज तथा लोगों की सभी प्रकार की क्षमताएं तथा आदतें सम्मिलित रहती हैं।''

लैस्ली व्हाइट के अनुसार, ''संस्कृति कुछ अद्भुत पदार्थों का संगठन है क्रियायें (व्यवहार आदर्श) और वस्तुएं। विचार (विश्वास, ज्ञान), और भावनाएं (मनोवृत्तियां, मूल) जो कि लाक्षणिक संकेतों के प्रयोग पर निर्भर है।

कून के अनुसार, ''संस्कृति उन विधियों का समुच्चय हैं, जिनमें मनुष्य, एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक सीखने के कारण, रहता है, ''संस्कृति में जो तत्व सम्मिलित है उनका वर्णन करते हुए कून कहता है कि ''इसके अन्दर जोड़ो और समूहों के रूप में लोगों के सम्बन्ध, मनुष्य के कार्य जिनमें भौतिक पदार्थ भी है और लाक्षणिक संकेतों के क्षेत्र में अपनी शक्ति का व्यय जिसमें भाषा, संगीत, कलाये और मानव शरीर भी सम्मिलित हैं।''

बिडनी के अनुसार, ''संस्कृति में समाज के अन्दर व्यक्तियों के प्राप्त या बनाए गए व्यवहार और विचार, और साथ में बौद्धिक, कलात्मक और सामाजिक आदर्श और संस्थाएं हैं, जोकि समाज के सदस्य स्वीकार करते हैं और जिसके अनुसार कार्य करने की चेष्टा करते हैं।''

पार्सन्स के अनुसार, ''पार्सन के विचार में संस्कृति सामाजिक अन्तःक्रिया की उपज है और अगली अन्तःक्रियाओं में होने वाले व्यवहार की पथ-प्रदर्शक हैं।''

मोलिनोवस्की के अनुसार, ''संस्कृति जीवन व्यतीत करने की एक सम्पूर्ण विधि है जोकि व्यक्ति की शारीरिक, मानसिक एवं अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति करती है और उसे प्रकृति के बंधनों से मुक्त करती है।''

फेयर चाइल्ड के अनुसार, ''प्रतीकों द्वारा सामाजिक रूप से प्राप्त और संचारित सभी व्यवहार प्रतिमानों के लिए सामूहिक नाम 'संस्कृति' है।

हाॅबल के अनुसार, ''संस्कृति सीखे हुए व्यवहार प्रतिमानों का कुल योग है, जो किसी समाज के सदस्यों की विशेषता है और जोकि प्राणीशास्त्रीय विरासत का परिणाम नहीं हैं।''

राॅल्फ लिंटन के अनुसार, ''एक समाज की संस्कृति अपने सदस्यों के लिए जीवन का ढंग है, विचारों और आदतों का संग्रह, जोकि वे सीखते हैं, सहभागी बनते है और एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होते हैं।

क्लाइड क्लकहाम के अनुसार, ''एक विशेष समाज के सदस्यों द्वारा ग्रहण किए गए एक जीवन का ढंग ही संस्कृति हैं।''

बीरस्टैड के अनुसार, ''संस्कृति उन वस्तुओं का गूढ़ संग्रह है जो समाज के सदस्यों के रूप में हम सोचते हैं, करते और रखते हैं।''

9.3 संस्कृति की विशेषताएं

उपरोक्त परिभाषाओं के अध्ययन के पश्चात् संस्कृति की निम्नलिखित विशेषताएं स्पष्ट हैः-

- संस्कृति सामाजिक अन्तःक्रिया की मानव उपज है।
- संस्कृति सीखी जाती है।
- संस्कृति हस्तान्तरित की जाती है।
- संस्कृति में सामाजिक गुण निहित होते हैं।
- प्रत्येक समाज की अपनी एक विशिष्ट संस्कृति होती है।
- संस्कृति समूह के लिए आदर्श है।
- संस्कृति में अनुकूलता की क्षमता पाई जाती है।
- संस्कृति मानव आवश्यकताओं की पूर्ति करता है।
- संस्कृति मानव व्यक्तित्व के निर्माण में मौलिक होती है।
- संस्कृति में अनुकूलन एवं एकीकरण का गुण पाया जाता है।

9.4 संस्कृति की प्रकृति

(1) संस्कृति में सहभागिता होती है - यदि कोई एक व्यक्ति किसी कार्य को विशेष तरीके से करता है तो वह संस्कृति नहीं है और न ही किसी एक व्यक्ति के विचार संस्कृति हैं, यह उसकी व्यक्तिगत आदत हो सकती है, संस्कृति का प्रतिमान नहीं।

संस्कृति कहे जाने के लिए किसी वस्तु या व्यवहार का किसी समूह या जनसंख्या के समग्र द्वारा स्वीकृत किया जाना आवश्यक है। उदाहरण के लिए हम लोगों के शिष्टाचार का तरीका भोजन करने के हेतु टेबिल-शिष्टाचार, विवाह के अवसर पर स्वागत-सत्कार की पद्धति एक जैसे हैं, अतः ये हमारी संस्कृति के अंग हैं। जब हम समूह में किसी एक व्यवहार में सहभागी होते हैं अर्थात् सभी उसका पालन करते हैं तो हमारा तात्पर्य संस्कृति से होता है। जब हम किसी उपसमूह के बीच पाए जाने वाले व्यवहार में सहभागी होते हैं अर्थात् सभी उसका पालन करते है। तो हमारा तात्पर्य संस्कृति से होता है। जब हम किसी उप-समूह के बीच पाए जाने वाले व्यवहार में सहभागिता की चर्चा करते हैं तो हमारा तात्पर्य उप-संस्कृति से होता है। जब हम किसी भौगालिक क्षेत्र में व्याप्त

सामान्य लक्षणों, व्यवहार, क्रियाओं का उल्लेख करते हैं तो हमारा तात्पर्य संस्कृति के व्यापक अर्थ से है जैसे- पश्चिमी संस्कृति अर्थात् वह संस्कृति जो पश्चिमी देशों में सामान्य है, जिसमें वहाँ के सभी लोग सहभागी हैं। संक्षेप में, संस्कृति समूह के अधिकांश सदस्यों के द्वारा स्वीकृत व मान्य होती है।

(2) संस्कृति सीखी जाती है - जन्म के समय मनुष्य संस्कृति से अनभिज्ञ होता है किन्तु धीरे-धीरे वह समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा उसे सीखता है। समाज के पास संस्कृति को आत्मसात् कराने के लिए संस्थात्मक व्यवस्था है। सभी वस्तुएं जिनमें सहभागिता है, वे संस्कृति नहीं हैं बल्कि सहभागिता के साथ उसे सीखना भी आवश्यक है। उदाहरण के लिए समाज में सभी के युवा अवस्था तक काले बाल होना सहभागिता का लक्षण है किन्तु काले बाल होना संस्कृति नहीं है काले बाल होना तो वंशानुक्रम से प्राप्त लक्षण है, सीखा हुआ नहीं। इसी प्रकार भूख लगना संस्कृति नहीं है किन्तु कब खाना, कैसे खाना, क्या खाना यह संास्कृतिक है जो सीखा जाता है, तथा जिसका प्रतिमान ही संस्कृति में कुछ भिन्नता लिए होता है। अमेरिका में कुत्ते का माँस खाना या खाने की सोचना भयानक अनुभव है जबकि चीन में कुत्ते का माँस चाव से खाया जाने वाला भोजन है। अमेरिका में सूअर का माँस खाना किसी अवकाश के दिन आनन्द लेने का प्रतीक है जबकि इजरायल व मिस्र में यह सर्वथा वर्जित है। कहने का तात्पर्य है कि खान-पान का प्रत्येक संस्कृति में अपना अलग प्रतिमान होता है जिसे बचपन से उस समाज के लोग सीखते हैं। बंदर, जो मनुष्य के निकटतम प्राणी-शास्त्रीय सम्बन्धी, भी सीखने की प्रक्रिया अपनाते हैं। 1953 में जापान के राष्ट्रीय बन्दर केन्द्र में प्रयोग द्वारा ज्ञात हुआ है कि किसी एक बन्दर को सिखााया गया नया व्यवहार (खाने से पूर्व उस वस्तु को साफ करना) उस समूह के सभी बन्दरों में फैल गया, सभी ने धीरे-धीरे उसे सीख लिया था। मनुष्य भी देखकर, अनुकरण करके और सबसे अधिक भाषा के द्वारा सीखता है।

(3) संस्कृति सामान्यतया अनुकूलनशील होती है - संस्कृति स्थिर नहीं होती है बल्कि मनुष्यों की भौगोलिक व सामाजिक आवश्यकता के अनुसार बदलती रहती है। वह नयी परिस्थितियों के अनुसार अपना अनुकूलन कर लेती है। चूँकि आज तक समाज और संस्कृति दोनों निरन्तर रूप से चले आ रहे हैं अतः यह कहना उचित होगा कि समय-समय पर संस्कृति ने अपने आपको ढाला है। संस्कृति अनुकूलनशील है इसका तात्पर्य है कि वह एक विशिष्ट भौतिक व सामाजिक परिस्थिति में ही अनुकूलन करती है, एक पर्यावरण के लिए जो संस्कृति अनुकूलनशील होती है, वह आवश्यक नहीं कि दूसरे पर्यावरण के लिए भी हो। यदि हम यह जानने का प्रयास करें कि किसी समाज में कोई विशेष प्रथा क्यों है ? तो उसका उत्तर उस समाज की उन परिस्थितियों में मिलेगा जिनमें संस्कृति ने अनुकूलन कर उन परम्पराओं को स्वीकार किया है। अतः यदि टुण्ड्रा प्रदेश के लोगों के मकान का आकार विशेष प्रकार का होता है तो उसका कारण वहाँ की बर्फीली परिस्थितियाँ हैं जहाँ अन्य प्रकार के मकान उपयुक्त नहीं हो सकते। अथवा राजस्थान के गाँवों में जहाँ तेज गर्मी पड़ती है वहाँ ''फूस'' की छत बनाई जाती है तो वह वहाँ की भौगोलिक परिस्थिति से सामंजस्य कहा जाएगा क्योंकि ऐसी छतें जो फूस से बनती हैं ठण्डी होती हैं। यही संस्कृति की अनुकूलनशीलता है। इसी प्रकार गर्म प्रदेशों में एक यह सामाजिक प्रतिबन्ध है, जो कि परम्परा का रूप ले चुका है, कि कोई भी स्त्री सन्तान होने के दो वर्ष तक अपने पति से दाम्पत्य सम्बन्ध नहीं रखती। इसे प्रसवोत्तर यौन सम्बन्ध प्रतिबन्ध कहते हैं। इसका कारण यह है कि दाम्पत्य सम्बन्ध रखने से दूसरी सन्तान होने के अवसर रहते हैं जिसके कारण पहले बच्चे को माता का दूध उचित मात्रा में प्राप्त नहीं होता है और वह प्रोटीन के अभाव में भयंकर बीमारियों से ग्रसित हो जाता है। गर्म प्रदेशों में वैसे भी बच्चों को प्रोटीन की कमी से होने वाली बीमारियाँ होती हैं।

(3) हमें यह प्रथा आश्चर्यजनक लगती है, लेकिन वहाँ की परिस्थितियों में इसका विशेष अर्थ है। शीतल प्रदेशों में जहाँ प्रोटीन के अभाव से जनित बीमारी (क्वाशिअरकर) नहीं होती वहाँ प्रसवोत्तर यौन सम्बन्ध प्रतिबनध नहीं

पाया जाता। यह संस्कृति का अनुकूलन भी है। होपी जन-जाति के लोग पहाड़ों की चोटियों पर अपने मकान बनाते हैं जबकि उनको इसके कारण अनेक कष्ट होते हैं, खासकर दूर-दूर से जल को सिर पर ढ़ोकर लाना पड़ता है, लेकिन फिर भी उन्होंने पहाड़ों पर इसलिए मकान बनाए हैं कि उन्हं अपने शत्रु नवाजों और अपाछे लोगों के आक्रमण का बराबर डर रहता है, अतः पहाड़ पर से वे उनका उचित प्रकार से मुकाबला कर सकते हैं।

(4) संस्कृति संगठित होती है- संस्कृति का कोई भी प्रतिमान अलग-थलग नहीं होता बल्कि एक दूसरे से जुड़ा होता है। हमारा समस्त जीवन जिस प्रकार संगठित है और हमारी विचारधारा जिस प्रकार हमारी हर क्रिया में प्रतिध्वनित होती है वैसे ही संस्कृति के भी सभी तत्व, संकुल व प्रतिमान परस्पर जुड़े रहते हैं। उदाहरण के लिए अभी हमने संस्कृति की अुनकूलनशीलता के अन्तर्गत ''प्रसवोत्तर यौन सम्बन्ध प्रतिबन्ध'' की चर्चा की जो गर्म प्रदेशों में पाई जाती है यदि इस प्रकार के ¬प्रतिबन्ध की कल्पना अमेरिका के समाज में की जाए तो यह सम्भव नहीं है। इसका कारण यह है कि अमेरिकी पुरूष या महिला दो-तीन साल तक यौन सम्बन्धों का त्याग करना पसंद नहीं करेंगे, क्योंकि उनकी संस्कृति में विवाह और यौन का अर्थ अधिक से अधिक आनन्द है, एक आनन्ददायी विवाह का अर्थ है यौन सम्बन्धों की आवृत्ति। वहाँ परिवार नियोजन के अनेक साधन भी उपलब्ध हैं जो इन लक्ष्यों की प्राप्ति में ईजाद (आविष्कृत) किए गए हैं। ऐसे प्रतिबन्ध वहाँ लगाने से संस्कृति का मूल स्वरूप ही बदल जाएगा। एक नए ''व्यवहार'' को प्रविष्ट करने से संस्कृति के अनेक तत्वों में बदलाव लाना आवश्यक होगा। इसका कारण यह है कि संस्कृति संगठित है। जिन तत्वों से संस्कृति बनी है, वे अनर्गल रूप से जुड़े हुए नहीं हैं बल्कि एक दूसरे से सामंजस्य स्थापित करते हुए जुड़े हुए हैं। एक तत्व में परिवर्तन दूसरे तत्वों में परिवर्तन को आवश्यक बना देता है। उदाहरण के लिए यदि हम साइकिल के हैण्डिल में ''एक्सीलेटर'' लगा दें तो स्कूटर नहीं बनता उसके लिए हमें एन्जिन, गीयर, शाफ्ट, पैट्रोल, सप्लाई व अनेक परिवर्तन करने होंगे। यह एक भाग का दूसरे भाग से संगठित होने के कारण आवश्यक होता है।

(5) संस्कृति सदा परिवर्तनशील होती है- चूँकि संस्कृति में अनुकूलनशीलता होती है और वह संगठित होती है अतः इससे यह भी स्पष्ट है कि वह परिवर्तनशील होती है अन्यथा अनुकूलन और संगठन कैसे कायम रह सकेगा। संस्कृति का अनुकूलन पर्यावरण के परिवर्तन के कारण उत्पन्न सांस्कृतिक परिवर्तन है। यह भी स्पष्ट है कि संस्कृति के एक पक्ष में परिवर्तन अन्य भागों में परिवर्तन को आवश्यक शर्त बना देता है। संस्कृति में परिवर्तन की आदतों में अथवा संस्कृति करे अस्वीकार किए जाने के कारण उत्पन्न होता है। कई बार कोई नया व्यवहार लोगों को अच्छा लगने लगता है और उसे वे अपना लेते हैं, चेतन अथवा अचेतन रूप में, और वह जब ज्यादातर लोगों द्वारा अपना लिया जाता है तो वही संस्कृति बन जाता है। इस प्रकार संस्कृति में परिवर्तन धीरे-धीरे अक्सर होते रहते हैं।

(6) संस्कृति संचयी है - संस्कृति मनुष्य की सबसे बड़ी उद्विकासीय उपलब्धि है। आज हम जिस तरह के सांस्कृतिक परिवेश में जी रहे हैं वह शनैः शनैः निर्मित हुआ है। संस्कृति सामाजिक विरासत के रूप में मनुष्य को प्राप्त होती है जिसका हस्तान्तरण पीढ़ी-दर-पीढ़ी अनेक माध्यमों व साधनों से किया जाता है। संस्कृति की विशेषता यह भी है कि इसकी प्रकृति संचयी है। इसका अर्थ यह हुआ कि मनुष्य के द्वारा निर्मित विचार और वस्तुएँ अगली पीढ़ी में अधिक परिष्कृत रूप से अभिव्यक्त होते हैं, क्योंकि ज्ञान की एक स्थिति से ज्ञान की दूसरी स्थिति को प्राप्त करने के लिए पुनः आरभ से नहीं चलना पड़ता। उदाहरण के लिए जलाने के लिए आदिम मानव की तरह पत्थर से पत्थर नहीं रगड़ना पड़ता बल्कि पीढ़ी दर पीढ़ी हम, आग जलाने की प्रक्रिया के लिए उत्तरोत्तर, बेहतर प्राप्त साधनों का उपयोग करते हैं। पत्थर से पत्थर रगड़ने के पश्चात्, चकमक पत्थर फिर माचिस, फिर बिजली

से चलने वाला लाइटर, गैसों से चलने वाला लाइटर और अब इलैक्ट्रानिक लाइटर के माध्यम से आग जलाई जाती है।

(7) प्रत्येक संस्कृति के अपने आचार तत्व या इथोज होते है - हर संस्कृति के अन्दर उसके मानने वाले एक खास विचारधारा, शैली, कार्य-सम्पादन विधि व जीवन पद्धति को मानते हैं। कुछ संस्कृतियों में शुरू से ही कमनीयता, लचीलापन, शर्मीलापन, शिष्टता व सत्य के संस्कार डाले जाते हैं और वहाँ के लोग अपने व्यक्तित्व में इन गुणों को पाते हैं। जबकि कुछ संस्कृतियाँ ऐसी होती हैं जहाँ पर क्रूरता, वीरता, परम्परापन, अक्खड़ता व रफ प्रकृति विकसित की जाती है। कई समाजों में जब बच्चा अपनी माँ का दूध भी पीता है तो माताएं उन्हें क्रोध से झटक देती हैं। भारत की संस्कृति में हम देखते हैं कि धर्म की लय है जिसके अन्तर्गत हम देखते हैं कि प्रत्येक कार्य धार्मिक आधार पर होता है। कोई भी क्रिया हो उसमें धर्म निहीत होता है। जैसे जन्म से मृत्यु तक के संस्कार सभी में धार्मिक क्रियाएं और विचारधारा सन्निहित हैं। यौन सम्बन्ध, माता-पिता के प्रति कर्तव्य, भवन-निर्माण, कूप-निर्माण, कृषि आरम्भ, वाहन की खरीद इन सभी क्रियाओं में हम धार्मिक विधि पाते हैं क्योंकि हमारे देश की संस्कृति में धर्म एक महत्वपूर्ण 'इथोज' है। 'इथोज' का सम्बन्ध कार्य करने की विषय-वस्तु से उतना नहीं है जितना उसके करने की पद्धति से है, अतः इथोज हमारी क्रियाओं को संचालित करते हैं।

9.5 संस्कृति के मूल तत्व

लोवेल जे. कार के अनुसार प्रत्येक संस्कृति में कुछ आधारभूत तत्व होते हैं। ये तत्व सभी संस्कृतियों में पाए जाते हैं। कार ने ऐसे पाँच तत्वों की चर्चा की है।

1. भाषा - भाषा संचार के लिए आवश्यक है। सभी बातचीत, लेखन, शिष्टाचार, प्रौद्योगिकी व विकास को भाषा के माध्यम से समझाया जा सकता है। बिना भाषा के तो मनुष्य पशु है।

2. भौतिक तत्व व वस्तुएं - इसके अन्तर्गत वे वस्तुएं आती हैं जो देखी जा सकती हैं, जो मानव निर्मित हैं। इस प्रकार प्रत्येक संस्कृति में कुछ भौतिक वस्तुएं होती हैं यथा रहने के लिए घर, खाने के लिए बरतन, घड़े, वस्त्र, भोजन-सामग्री, खिलौने, लकड़ी-पत्थर की सामग्री आदि। कार लिखते हैं कि वस्तुओं का किसी समाज में होना ही पर्याप्त नहरं है बल्कि उसके उपयोग की विस्तृत जानकारी भी होनी चाहिए। यदि किसी जंगली जनजाति के घरों के बीच यदि, एक लड़ाकू विमान गिर जाता है तो इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वह उनकी संस्कृति का अंग हो गया। संस्कृति का भाग होने के लिए यह भी आवश्यक है कि उस संस्कृति के अनुयायियों को उसके निर्माण, उपयोग, सुधारने की तकनीकी आदि प्रक्रियाओं का ज्ञान होना चाहिए।

3. सामंजस्य प्रतिमान - इसका तात्पर्य यह है कि संस्कृति मनुष्य के लिए प्रत्येक परिस्थिति में व्यवहार के तरीके प्रस्तुत करती है। व्यवहार के ये तरीके निम्न प्रकार के हो सकते हैं-

(अ) जिनमे बाध्यता नहीं है - ऐसे तरीकों को समनर ने जनरीति (फोकवेज) कहा है। ऐसे तरीकों में आप पर कोई बाध्यता नहीं है कि आप करें ही। जैसे- आप पलंग पर भी सो सकते हैं और जमीन पर भी। कोई नियम नहीं है पलंग पर ही सोया जाए। चूँकि पलंग पर सोना सुविधाजनक है अतः हम लोग उसे पसंद करते हैं।

(आ) बाध्यता मूलक प्रतिमान - ऐसे कार्यों को करना पड़ता है, समूह के हित में ऐसे व्यवहएार करने के लिए समूह का दबाव होता है। जैसे किसी अजनबी से परिचय कराए जाने पर हम उसे हाथ मिलाते हैं, ऐसे न किया जाना अशिष्टता है। चाहे आप भोजन के लिए टेबिल पर हाथ धोकर बैठे ही रहे हो, यदि किसी ने आपका परिचय किसी अपरिचित से कराया है तो उस तथ्य के बावजूद कि यह समय हाथ मिलाने के लिए सर्वथा स्वास्थ्य के

नियमों के प्रतिकूल है, आप हाथ मिलाते हैं। फिर आप यह नहीं सोचते हैं कि हाथ मिलाने से आपके हाथों में कीटाणुओं का कुप्रभाव हो सकता है समनर ने ऐसे सामंजस्य को ''रूढ़ि'' कहा है। रूढ़ियों के पीछे तर्क होना आवश्यक नहीं है।

(इ) संगठनात्मक बाध्यता- इसके अन्तर्गत व्यक्ति को किसी संगठन के नियमों के अनुसार कार्य करना होता है। व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति व कार्य संगठन के द्वारा निर्देशित तरीकों से ही करता है। ऐसे प्रतिमान को संस्था कहा जाता है।

4. मूल्य और आदर्श - प्रत्येक संस्कृति के कुछ स्वीकृत मूल्य और आदर्श होते हैं, जिन्हें सभी लोग स्वीकार करते हैं, जैसे- ईमानदारी अच्छी बात है, चोरी नहीं; मानवता बर्बरता से श्रेष्ठ होती हैं; जीवन मृत्यु श्रेष्ठ है आदि। हम इन मूल्यों व आदर्शों के लिए मरते-पिटते हैं तथा इन्हें पीढ़ी दर पीढ़ी संचारित करते हैं।

5. प्रकार्यों की परस्पर निर्भरता - संस्कृति द्वारा निर्देशित जिन-जिन कार्यों को हम करते हैं उनमें परस्पर अन्तनिर्भरता पाई जाती है, अतः ग्राहक-दूकानदार, छात्र-शिक्षक, वक्ता-श्रोता समूह, मित्र-मित्र में परस्पर एक दूसरे के प्रकार्यों में पूरक सम्बन्ध होता है व एक दूसरे पर अन्तनिर्भर रहते हैं।

9.6 सारांश

प्रस्तुत इकाई में संस्कृति की अवधारणा के विषय पर अध्ययन किया। संस्कृति के अर्थ तथा परिभाषा के विषय में ज्ञान प्राप्त किया। संस्कृति की विशेषताओं का अध्ययन किया। तत्पश्चात् संस्कृति की प्रकृति के विषय में ज्ञान प्राप्त किया तथा इकाई के अंत में संस्कृति के मूल तत्वों के विषय में अध्ययन किया।

9.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. संस्कृति से आप क्या समझते है ? परिभाषित कीजिए।
2. संस्कृति का अर्थ बताते हुए संस्कृति की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
3. संस्कृति की प्रकृति की व्याख्या कीजिए।
4. संस्कृति के मूल तत्वों का वर्णन कीजिए।

9.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. शर्मा, आर.एन.एवं. शर्मा, आर. के. (2002) सामाजिक विघटन, एटलांटिक पब्लिशर्स एवं डिस्ट्रीब्यूटर्स: नई दिल्ली
2. शर्मा, के. एल. (2011) सामाजिक स्तरीकरण, रावत पब्लिकेशन्सः जयपुर
3. राम, एस. पी. (2010) भारतीय सामाजिक समस्याएं: अर्जुन पब्लिशिंग हाउस: नई दिल्ली
4. सिंह, डी. के., पालीवाल, एस एवं मिश्र, आर. (2010) मानव समाजः संगठन एवम् विघटन के मूल तत्वः न्यू रा ॅयल बुक कम्पनीः लखनऊ
5. सिंह, ए. के. (2009) उच्चतर सामान्य मनोविज्ञान, मोतीलाल बनारसीदास: नई दिल्ली
6. सिंह एस. के. (2010) जाति व्यवस्था: निरंतरता एवं परिवर्तन, रावत पब्लिकेशनः जयपुर

7. दोषी, एस. एल. एवं जैन, पी.सी. (2005) भारतीय समाज, नेशनल पब्लिसिंग हाउसः जयपुर
8. यादव आर. (2005) सामाजिक समस्याएं, अर्जुन पब्लिशिंग हाउसः नई दिल्ली
9. मिश्र, पी.डी. (2003) व्यक्ति और समाज, न्यू रा ॅयल बुक कम्पनी: लखनऊ
10. मिश्र, पी.डी. एवं मिश्रा बी. (2004) सोशल वर्क प्रोफेशन इन इण्डिया, न्यू रा ॅयल बुक कम्पनी: लखनऊ
11. महाजन, एस. (2010) सामाजिक समस्याएं, अर्जुन पब्लिसिंग हाउसः नई दिल्ली

इकाई-10

सामाजिक मूल्य एवं प्रतिमान

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य

10.1 प्रस्तावना

10.2 सामाजिक मूल्य

10.3 सामाजिक प्रतिमान

10.4 सामाजिक प्रतिमान एवं मूल्य में अन्तर

10.5 सारांश

10.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

10.7 सन्दर्भ ग्रन्थ

10.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के उपरांत आप-

1. सामाजिक मूल्य की परिभाषाओं, सामाजिक मूल्य की विशेषताओं, के विषय पर अध्ययन कर सकेंगे।
2. सामाजिक मूल्यों के ¬प्रकार, सामाजिक मूल्यों का महत्व एवं प्रकार्य को समझ सकेंगे।
3. सामाजिक प्रतिमान की परिभाषाओं एवं वर्गीकरण का ज्ञान प्राप्त कर सकेंग
4. सामाजिक प्रतिमान एवं मूल्यों के मध्य अंतर को स्पष्ट कर सकेंगे।

10.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में सामाजिक मूल्य एवं प्रतिमान के विषय पर विचार किया गया है। सामाजिक मूल्य द्वारा स्वीकृत इच्छाएं तथा लक्षण है जिनका अन्तरीकरण सीखने या सामाजीकरण की ¬प्रक्रिया से आरम्भ होता है जो कि इनके पश्चात् प्रतीक अभिमान्यताएं बन जाती है। इसके अलावा समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से मूल्यों को उन कसौटियों के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। जिनके माध्यम से समूह अथवा समाज व्यक्तियों प्रतिमानों, उद्देश्यों और अन्य सामाजिक-सांस्कृतिक वस्तुओं के महत्व का निर्णय करते है। मूल्यों द्वारा सभी ¬प्रकार की वस्तुओं का मूल्यांकन किया जा सकता है। चाहे वे भावनाएं हो या विचार। इसके अतिरिक्त मूल्यों द्वारा क्रिया, गुण, वस्तु व्यक्ति, समूह, लक्ष्य या साधनों का भी अध्ययन किया जा सकता है।

10.2 सामाजिक मूल्य

सामाजिक मूल्य व्यवहार का सामान्य तरीका है तथा वह सामान्य प्रतिमान है जो किसी समाज में अच्छे या बुरे, सही या गलत को तय करता है। उदाहरण के लिए सदा सत्य बोलो, सब पर दया करो, स्त्री-पुरुष को समान अधिकार प्राप्त हों, प्रजातन्त्र एक अच्छी शासन व्यवस्था है आदि हमारे समाज में सामान्य मूल्य है। सामाजिक प्रतिमान एवं सामाजिक मूल्य यद्यपि एक नहीं है फिर भी दोनो में पर्याप्त समानता है। हमारे सामाजिक सम्बन्धों को सन्तुलित बनाएँ रखने में मूल्य अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते है। सामाजिक मूल्यों के द्वारा ही सामाजिक व्यवहार में एकरूपता बनी रहती है।

डा. राधाकमल मुकर्जी सामाजिक मूल्यों की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि मूल्य मानव समूहों और व्यक्तियों के द्वारा प्राकृतिक एवं सामाजिक विश्व से सामंजस्य करने के उपकरण हैं। ऐसे प्रतिमानों को मूल्य कहते हैं जो व्यक्तियों की विभिन्न प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु मार्गदर्शन करते हैं। ये सामाजिक अस्तित्व के केन्द्रीय तत्व कहे जा सकते हैं और समूह के सदस्य इनको रक्षित रखने हेतु हर सम्भव त्याग करने को तैयार रहते हैं । मूल्य एक प्रकार से सामूहिक लक्ष्य होते हैं जो प्रत्येक सदस्यों के लिए आस्था का प्रतीक होते हैं।

10.2.1 सामाजिक मूल्य की परिभाषाएँ

सामाजिक मूल्यों की कुछ प्रमुख परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं-

राधाकमल मुकर्जी के अनुसार, ''मूल्य समाज द्वारा स्वीकृत वे इच्छाएँ तथा लक्षण हैं जिनका अन्तरीकरण सीखने या समाजीकरण की प्रक्रिया से आरम्भ होता है। जो कि इनके पश्चात् प्रातीतक अभिमान्यताएँ बन जाती हैं।''

जा ॅनसन के अनुसार, ''मूल्यों के द्वारा सभी प्रकार की वस्तुओं का मूल्याँकन किया जा सकता है चाहे वे भावनाएँ हों या विचार। इसके अतिरिक्त मूल्यों द्वारा क्रिया, गुण, वस्तु, व्यक्ति, समूह, लक्ष्य या साधनों का भी अध्ययन किया जा सकता है।''

वुड्स के अनुसार, ''सामाजिक मूल्य वे सामान्य सिद्धान्त है जो दिन प्रतिदिन के जीवन में व्यवहार को नियन्त्रित करते हैं। ये मानव व्यवहार को दिशा प्रदान करने के साथ-साथ अपने आप में आदर्श तथा उद्देश्य भी है। सामाजिक मूल्य में केवल यही नही देखा जाता कि क्या होना चाहिए बल्कि यह भी देखा जाता है कि क्या सही है या क्या गलत है।''

हारालाम्बोस के अनुसार, ''एक मूल्य एक विश्वास है जो यह बताता है कि क्या अच्छा और वांछनीय है।''

फिचर के अनुसार, ''समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से मूल्यों को उन कसौटियों के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिनके माध्यम से समूह अथवा समाज व्यक्तियों, प्रतिमानों, उद्देश्यों और अन्य सामाजिक-सांस्कृतिक वस्तुओं के महत्व का निर्णय करते हैं।''

10.2.2 सामाजिक मूल्य की विशेषताएँ

उपरोक्त परिभाषाओं से सामाजिक मूल्यों की निम्नलिखित विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं-

(1) सामाजिक मूल्यों का सम्बन्ध वैयक्तियक न हो कर सामूहिक होता है।

(2) सामाजिक मूल्य सामूहिक अन्तःक्रिया की उपज एवं परिणाम होते हैं।

(3) सामाजिक मूल्य उच्च स्तरीय सामाजिक प्रतिमान हैं। जिनके माध्यम से हम किसी वस्तु का मापन करते हैं।

(4) समाज और समूह के सभी सदस्य सामाजिक मूल्यों को एक मत से स्वीकार करते हैं। इसी कारण मूल्यों के उल्लंघन पर समाज प्रतिक्रिया व्यक्त करता है।

(5) सामाजिक मूल्यों में समय एवं परिस्थितियों के साथ परिवर्तनशीलता आती है अर्थात् सामाजिक मूल्य गतिशील होते हैं।

(6) अलग-अलग समाजों में अलग-अलग प्रकार के सामाजिक मूल्य होते हैं।

(7) सामाजिक मूल्यों से सामाजिक कल्याण एवं विभिन्न सामाजिक आवश्कताओं की पूर्ति होती है।

(8) सामाजिक मूल्यों की प्रकृति सार्वभौमिक है। अर्थात् मूल्य सभी समाजों में विद्यमान होते है।

10.2.3 मूल्यों के प्रकार

मूल्यों को मुख्यतः दो प्रकार की वृहद श्रेणियों मे वर्गीकृत किया जा सकता है-

(1) वैयक्तिक मूल्य

(2) सामूहिक मूल्य

वैयक्तिक मूल्य वे मूल्य हैं जो मानव व्यक्तित्व के विकास से सम्बन्धित होते हैं जिसके कारण मानव व्यक्तित्व की रक्षा होती है जैसे ईमानदारी, राजभक्ति सत्यशीलता, सम्मान आदि।

सामूहिक मूल्य, समूह की सुदृढ़ता से सम्बन्धित होते है अर्थात् समूह के सामूहिक प्रतिमान होते हैं जैसे - न्याय, सामूहिक दृढ़ता, समानता आदि।

सामाजिक मूल्यों को डा. मुकर्जी ने सोपानिक व्यवस्था के अनुसार दो वर्गो में वर्गीकृत किया है।

(1) साध्य मूल्य

(2) साधन मूल्य

साध्य मूल्य वे लक्ष्य एवं सन्तुष्टियाँ हैं जिनको व्यक्ति एवं समाज जीवन और मस्तिष्क के विकास के लिए अपनाता है जो व्यक्ति के व्यावहारिक अंग होते हैं। ये मूल्य पारलौकिक और अमूर्त होते हैं। इनका मानव जीवन में उच्चतम् एवं विशिष्ट स्थान होता है। जैसे- ''सत्यम् शिवम् सुन्दरम्''।

साधन मूल्य वे होते हैं जिनको व्यक्ति एवं समाज साध्य मूल्यों को प्राप्त करने हेतु, उनकी सेवा एवं उन्हें उन्नत करने के साधन के रूप में अपनाता है। इस प्रकार साधन मूल्यों के समुचित चुनाव पर ही व्यक्ति एवं समाज द्वारा साध्य मूल्यों की प्राप्ति संभव है। स्वास्थ्य, सम्पत्ति, पेशा, सत्ता, सुरक्षा, प्रस्थिति इत्यादि साधन मूल्य हैं क्योकि इनका प्रयोग व्यक्ति द्वारा कुछ लक्ष्य एवं सन्तुष्टियों की प्राप्ति हेतु किया जाता है। प्रायः लोगो का लगाव साध्य मूल्यों की तुलना में साधन मूल्यों से होता है।

10.2.4 सामाजिक मूल्यों का महत्व एवं प्रकार्य

सामाजिक मूल्य हमारे दैनिक व्यवहारात्मक विनिमय के सामान्य सिद्धान्त हैं। ये हमारे व्यवहार को दिशा निर्देशित ही नहीं करते वरन् ये आदर्श भी होते हैं। मूल्यों के महत्व का उल्लेख करते हुए डा. मुकर्जी जी का कथन है कि

मूल्यों का सामाजिक विज्ञान के लिए वही महत्व है जो भौतिक विज्ञान के लिए गति एवं गुरूत्वाकर्षण का है तथा शरीर विज्ञान के लिए पाचन क्रिया एवं रक्त संचार का है। गति, गुरूत्वाकर्षण एवं रक्त संचार को तो प्रकृति की घटनाओं से अलग करके मापा जा सकता है और सूत्रबद्ध किया जा सकता है परन्तु मूल्यों को जीवन, बुद्धि, और समाज से अलग करना संभव नहीं हैं। मनुष्य की आधारभूत इच्छाओं एवं आवश्यकताओं की संतुष्टि करने में मूल्यों का महत्वपूर्ण स्थान है। सामाजिक मूल्य समाज को एकत्रित, संगठित एवं नियन्त्रित बनाए रखते हंै। इमाइल दुर्खीम ने सामाजिक मूल्यों को आदर्श माना है। आपका मत है कि मूल्य की विवेचना एक सामाजिक तथ्य के रूप में होनी चाहिए। दुर्खीम के अनुसार सामाजिक तथ्य की तरह सामाजिक मूल्य की दो अनिवार्य विशेषताएँ हैः बाह्यता और बाध्यता। दुर्खीम का कहना है कि मूल्य सामाजिक सदस्यों की मानसिक अन्तः क्रिया का फल है। सामाजिक मूल्य किसी एक व्यक्ति का मूल्य नही होता अतः यह व्यक्तियों के व्यवहार को प्रभावित करता है और व्यक्ति को एक विशेष ढंग से व्यवहार करने को बाध्य करता है।

सामाजिक मूल्यों के मुख्य प्रकार्य निम्नलिखित हैं-

(1) सामाजिक मूल्य समाज में एक विशेष प्रकार के मापदण्डीय एवं स्वीकृत व्यवहारों की उत्पत्ति करते हैं।

(2) समूह एवं व्यक्ति की क्षमता एवं योग्यता का मूल्यांकन सामाजिक मूल्यों द्वारा ही संभव है। व्यक्ति की समाज में स्थिति एवं संस्तरण का मूल्याँकन मूल्यों द्वारा होता है।

(3) सामाजिक मूल्य समाज का निर्माण एवं सामाजिक सम्बन्धों में समानता लाते हैं।

(4) ये समाज के सदस्यों के व्यवहारों को निश्चित एवं निर्धारित करते हैं।

(5) व्यक्ति की विभिन्न प्रस्थितियों एवं उससे जुड़ी भूमिकाओं का निर्देशन मूल्यों के द्वारा ही होता है।

(6) सामाजिक मूल्य, समाज के सदस्यों के अनौपचारिक नियन्त्रण में सहायक होते हैं।

(7) सामाजिक मूल्य मानव व्यवहारों की अनुरूपता एवं विचलन को स्पष्ट करते हैं।

10.3 सामाजिक प्रतिमान

समाज में सभी व्यक्तियों के सम्बन्धों में एक निश्चित व्यवस्था पाई जाती है। सामाजिक सम्बन्धों के निर्माण के लिए व्यक्तियों से विशिष्ट प्रकार के व्यवहार की अपेक्षा की जाती है। विभिन्न सामाजिक स्थितियों में विभिन्न पद और परिस्थिति के व्यक्तियों में परस्पर अन्तःक्रिया होती रहती है। इन व्यक्तियों की अन्तःक्रिया की प्रक्रिया कुछ निर्धारित सामाजिक नियमों के अनुसार होती है। यह नियम समूह के लिए आदर्श होते हैं इसलिए इन्हें आदर्श नियम या सामाजिक प्रतिमान या सामाजिक मानदण्ड कहा जाता है। हमारे दैनिक जीवन में सभी आयाम लघु या महत् प्रतिमानों पर निर्भर करते हैं। शिक्षक एवं शिष्य के बीच परस्पर अभिवादन जैसे लघु प्रतिमानों से लेकर व्यक्ति की व्यक्तिगत सम्पत्ति उपभोग जैसे महत् प्रतिमान हमारे जीवन के प्रत्येक पक्ष पर प्रभाव डालते हैं। विभिन्न सामाजिक प्रतिमान परिवार में माता-पिता, भाई-बहन, दूसरे सदस्य, खाने -पीने के तरीके, कपड़े पहनने की शैली, बातचीत के तौर-तरीकों, व्यवसाय में अपने पदानुसार व्यवहारों आदि के माध्यम से अभिव्यक्त होते हैं।

साधारण शब्दों में हम उन नियमों को सामाजिक प्रतिमान कहते हैं जो किसी समाज के सांस्कृतिक मूल्यों, सांस्कृतिक विशेषताओं और व्यक्तियों की अपेक्षाओं के अनुरूप किसी विशेष दशा में विशेष प्रकार के व्यवहार की अपेक्षा करते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि ये व्यक्ति के व्यवहार को निर्देशित करते हैं।

समाजशास्त्रीय अर्थ में सामाजिक प्रतिमान वे तत्व हैं जिनके द्वारा समाज अपने सदस्यों के व्यवहार पर इस प्रकार नियन्त्रण करता है कि वे अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए अपनी प्रक्रियाओं को सम्पादित करते हैं।

10.3.1 सामाजिक प्रतिमान की परिभाषाएँ

राबर्ट बीयरस्टेड के अनुसार, ''सामाजिक प्रतिमान एक प्रमापित कार्य प्रणाली का रूप है। वह कार्य सम्पन्न करने का एक तरीका है जो हमारे समाज द्वारा स्वीकृत है।'' इस प्रकार बीयरस्टेड ने सामाजिक प्रतिमानों को सामाजिक व्यवहार के नापने के पैमाने के रूप में देखा है।

मैकाइवर एवं पेज के अनुसार, ''सामाजिक प्रतिमान के बिना निर्णय का भार असहनीय होगा तथा आचरण की तरंगें पूरी तरह से बौखला देने वाली होगीं।'' इस प्रकार उन्होंने स्पष्ट किया है कि व्यक्ति का जीवन प्रतिमानों के आधार पर चलता है।

डेविस के अनुसार, ''सामाजिक प्रतिमानों के माध्यम से मानव समाज अपने सदस्यों के व्यवहारों को इस प्रकार नियमित करता है जिससे वे समाज से सम्बन्धित आवश्यकताओं को पूर्ण करने हेतु क्रियाएं सम्पादित कर सके और जैविक आवश्यकताओं के मूल्य भी।''

किम्बल यंग के अनुसार, ''सामाजिक प्रतिमानों से हमारा अभिप्राय समाज द्वारा रखी जाने वाली अपेक्षाएँ हैं।''

ग्रीन के अनुसार, ''सामाजिक प्रतिमान परिस्थितिजन्य दशाओं में अपेक्षित आचरणों के विषय मे मानक सामान्यीकरण हैं।''

वुड्स के अनुसार, ''सामाजिक प्रतिमान का तात्पर्य उन नियमों से है जो मानव व्यवहार को नियन्त्रित करते हैं, सामाजिक व्यवस्था में पारस्परिक सहयोग में बृद्धि करते हैं और किसी विशेष दशा में व्यक्ति के व्यवहारों का पूर्वानुमान करने में सहायक होते हैं।''

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि समाज ने हमारे दैनिक जीवन की अनेक क्रियाओं को नियमित करने हेतु कुछ सामाजिक प्रतिमान बना रखे हैं। हम किसी भी सामाजिक स्थिति के अनुकूल निर्धारित प्रतिमानों पर विचार करके अन्तःक्रिया के स्वरूप की भविष्यवाणी कर सकते हैं।

उपरोक्त परिभाषाओं से सामाजिक प्रतिमानों की निम्नलिखित मुख्य विशेषताएं स्पष्ट होती हैं-

(1) सामाजिक प्रतिमान समाज के ऐसे समान्य नियम हैं जिन्हें सांस्कृतिक मूल्यों के अनुसार समाज की स्वीकृति मिली होती है।

(2) प्रत्येक सामाजिक प्रतिमान में व्यक्ति एवं समूह के प्रति कर्तव्यों एवं नैतिकता का समावेश होता है।

(3) सामाजिक प्रतिमानों से व्यक्तियों को कार्य सम्पन्न करने के लिए मार्गदर्शन मिलता है।

(4) सामाजिक प्रतिमान विभिन्न समाजों में भिम्न-भिन्न हो सकते हैं।

(5) सामाजिक प्रतिमान व्यक्ति एवं समाज के लिए उपयोगी होते हैं।

(6) सामाजिक प्रतिमानों की प्रकृति सरल होने के कारण उनके अनुरूप व्यवहार आदत बन जाते हैं।

(7) किसी विशेष कार्य के लिए भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के लिए प्रतिमान अलग-अलग होकर सभी के लिए एक समान होते हैं।

(8) सामाजिक प्रतिमानों से समाज के सभी सदस्यों का आचरण सामाजिक अपेक्षाओं के अनुरूप बना रहता है।

(9) सामाजिक प्रतिमानों के अनुकूल ही समाज अपने सदस्यों का समाजीकरण करता है।

(10) सामाजिक प्रतिमानों के माध्यम से सामाजिक-सांस्कृतिक विशेषताएं पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तान्तरित होती हैं।

10.3.2 सामाजिक प्रतिमानों का वर्गीकरण

सामाजिक प्रतिमानों के स्वरूप को इनके विभिन्न प्रकारों से और अधिक रूप से स्पष्ट समझा जा सकता है। यद्यपि सामाजिक प्रतिमानों का कोई सर्वमान्य वर्गीकरण नही है फिर भी इसके कुछ प्रकार ऐसे हैं जो सभी समाजों में पाये जाते हैं। जिसमें कुछ सामाजिक प्रतिमान सकारात्मक तथा कुछ नकारात्मक होते हैं। सकारात्मक प्रतिमान वे होते हैं जो किन्ही व्यवहारों को करने के लिए प्रेरित करते हैं जैसे आफिस में अधिकारी के आने पर कर्मचारियों का खड़ा होना और नकारात्मक प्रतिमान वे होते हैं जो किन्हीं व्यवहारों की मनाही करते हंै जैसे परम्परागत भारतीय समाज में पत्नी द्वारा पति का नाम न लेना।

बीयरस्टेड का वर्गीकरण

बीयरस्टेड ने सामाजिक प्रतिमानों को तीन प्रकारो में बाँटा है-

(1) जनरीतियां

(2) रूढ़ियां

(3) विधान

जिसमें जनरीतियाँ एवं रूढ़ियाँ अनौपचारिक सामाजिक प्रतिमान के प्रकार हैं और कानून औपचारिक प्रकार का प्रतिमान है।

नार्मन स्टोरर का वर्गीकरण

नार्मन स्टोरर ने अपनी में चार प्रकार के प्रतिमानों की चर्चा की है-

(1) निर्धारित प्रतिमान

(2) स्वीकृत प्रतिमान

(3) अधिमान प्रतिमान

(4) निषेधात्मक प्रतिमान

निर्धारित प्रतिमान, समाज द्वारा प्रत्येक व्यक्ति से आपेक्षित व्यवहार होते हैं जैसे पुत्र को बूढ़े मां बाप की देखभाल करनी चाहिए।

स्वीकृत प्रतिमान, वे व्यवहार है जिनका पालन करना अनिवार्य नहीं है परन्तु यदि किया जाता है तो उन्हें सहन करते है जैसे कभी-कभी देर रात से घर वापस लौटना।

अधिमान प्रतिमान वे व्यवहार हैं यद्यपि जिनका पालन करना अनिवार्य नहीं हैं परन्तु यदि उनका पालन किया जाता हंै तो अच्छा समझा जाता है जैसे माँ बाप को चाहिए कि वह अपने बच्चों को अच्छे वस्त्र पहनाएं।

निषेधात्मक प्रतिमान वे व्यवहार हैं जो किसी व्यवहार को करने पर निषेध लगाते हैं जैसे शौच क्रिया प्रत्येक स्थान पर नहीं करनी चाहिए।

किंग्सले डेविस का वर्गीकरण

डेविस (1960) ने सामाजिक प्रतिमानों का समाजशास्त्रीय वर्गीकरण प्रस्तुत किया है जो निम्नलिखित हैं-

(1) जनरीतियां

(2) रूढ़ियाँ

(3) कानून

(4) धर्म, नैतिकता एवं प्रथा

(5) संस्थाएं

(6) परिपाटी एवं शिष्टाचार

(7) फैशन एवं धुन

10.4 सामाजिक प्रतिमान एवं मूल्य में अन्तर

सामाजिक प्रतिमान एवं सामाजिक मूल्य यद्यपि समान हैं फिर भी दोनों में पर्याप्त भिन्नता है। अब प्रश्न उठता है कि सामाजिक मूल्य एवं सामाजिक प्रतिमानों में क्या अन्तर हैं? मूल्य व्यवहार का सामान्य तरीका है और वह सामान्य प्रतिमान है जो किसी समाज में अच्छे या बुरे, सही या गलत को निर्धारित करता है। जैसे सदा सच बोलो, सब पर दया करो, स्त्री पुरूष को समान अधिकार प्राप्त हों आदि हमारे समाज में सामाजिक मूल्य है।

मूल्य सामान्य होते हैं जबकि प्रतिमान विशेष होते हैं। किसी समाज में किसी मूल्य के पालन करने के लिए अनेक सामाजिक प्रतिमान पाये जा सकते है। अतः मूल्य साध्य है जब कि प्रतिमान साधन है मूल्यों की प्राप्ति सामाजिक प्रतिमानों के माध्यम से होती है। उदाहरण के लिए ईश्वर मे आस्था रखना एक मूल्य है, जिसे पाने के लिए कुछ प्रतिमान बने है जैसे मन्दिर में जूते चप्पल उतार कर जाना, वहाँ जाकर नतमस्तष्क होना, और पवित्र वस्तुओं को न छूना।

10.5 सारांश

इकाई में सर्वप्रथम सामाजिक समूह के अर्थ एवं परिभाषा, का अध्ययन है। इसके बाद समूह की विशेषताओं, वर्गीकरण का ज्ञान प्राप्त किया । तत्पश्चात् समूह के प्रकार, महत्व, का भी अध्ययन किया। इसके बाद सामाजिक परिवर्तन के अर्थ, परिभाषा तथा कारकों की भी चर्चा की गई। संस्कृति के अर्थ को परिभाषित करते हुए उसकी विशेषताओं का भी ज्ञान प्राप्त किया। अंत में सामाजिक मूल्य एवं प्रतिमान के अर्थ, विशेषताओं तथा महत्व का भी अध्ययन किया है।

10.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. सामाजिक मूल्य से आप क्या समझते है ? परिभाषा दीजिए।

2. सामाजिक मूल्य की विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

3. मूल्यों के ¬प्रकारों का वर्णन कीजिए।

4. सामाजिक मूल्यों का महत्व एवं ¬प्रकार्यों का उल्लेख कीजिए।

5. सामाजिक प्रतिमान से आप क्या समझते है ? वर्गीकरण कीजिए।

6. सामाजिक प्रतिमान एवं मूल्यों में अंतर स्पष्ट कीजिए।

10.7 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. सिंह, अरुण कुमार, समाजशास्त्र की मूलभूत अवधारणायें, न्यूरायल बुक कम्पनी, लखनऊ 2009

2. अग्रवाल, जी. के. एवं पाण्डेय, एस.एस., ग्रामीण समाजशास्त्र, साहित्य भवन पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स प्रा. लि., 2006

3. अहूजा, आर. एवं. अहूजा एम. (2008) समाजशास्त्र: विवेचना एवं परिप्रेक्ष्य, रावत पब्लिकेशन्सः जयपुर

4. चन्द्र, एस.एस. (2002) भारतीय सामाजिक संरचना, कनिष्का पब्लिशर्स: नई दिल्ली

5. चन्द्र, एस.एस. (2002) भारत में सामाजिक समस्याएं: कनिष्का पब्लिशर्स: नई दिल्ली

6. दोषी, एस. एल. एवं जैन, पी.सी. (2005) भारतीय समाज, नेशनल पब्लिसिंग हाउसः जयपुर

7. शर्मा, आर.एन.एवं. शर्मा, आर. के. (2002) सामाजिक विघटन, एटलांटिक पब्लिशर्स एवं डिस्ट्रीब्यूटर्स: नई दिल्ली

8. शर्मा, के. एल. (2011) सामाजिक स्तरीकरण, रावत पब्लिकेशन्सः जयपुर

9. राम, एस. पी. (2010) भारतीय सामाजिक समस्याएं: अर्जुन पब्लिशिंग हाउस: नई दिल्ली

10. सिंह, डी. के., पालीवाल, एस एवं मिश्र, आर. (2010) मानव समाजः संगठन एवम् विघटन के मूल तत्वः न्यू रा ॅयल बुक कम्पनीः लखन

11. सिंह, ए. के. (2009) उच्चतर सामान्य मनोविज्ञान, मोतीलाल बनारसीदास: नई दिल्ली

12. सिंह एस. के. (2010) जाति व्यवस्था: निरंतरता एवं परिवर्तन, रावत पब्लिकेशनः जयपुर

13. मिश्र, पी.डी. (2003) व्यक्ति और समाज, न्यू रा ॅयल बुक कम्पनी: लखनऊ

14. मिश्र, पी.डी. एवं मिश्रा बी. (2004) सोशल वर्क प्रोफेशन इन इण्डिया, न्यू रा ॅयल बुक कम्पनी: लखनऊ

इकाई -11

भारतीय सामाजिक संस्थायें

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य

11.1 प्रस्तावना

11.2 सामाजिक संस्था

11.3 संस्था की विशेषताए

11.4 संस्था का सामाजिक महत्व

11.5 भारतीय समाज की मूल संस्थाऐं

11.6 सारांश

11.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

11.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

11.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप-

1. सामाजिक संस्थाओं के अर्थ एवं परिभाषा के बारे में ज्ञान को प्राप्त कर सकेंगे।
2. सामाजिक संस्थाओं की विशेषताओं तथा सामाजिक महत्व को समझ सकेंगे।
3. भारतीय समाज की मूल संस्थाओं विवाह, परिवार, बंधुता तथा नातेदारी, जाति तथा धर्म के विषय में जान सकेंगे।

11.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में भारतीय सामाजिक संस्थाओं विषय पर विचार किया गया है। संस्था कुछ आदर्श नियमों का संग्रह है जो हमारी सामाजिक क्रियाओं के प्रमुख पक्षों से सम्बद्ध होता है। यह एक ऐसा निश्चित संगठन है, जो किसी विशेष स्वार्थ का अनुसरण करता है। एक सामाजिक संस्था का एक ढ़ाचा होता है जो मुख्य रूप से सुव्यवस्थित विधियों द्वारा लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए संगठित किया जाता है। इस प्रकार संस्था संगठन न होकर समाज का एक ढ़ाचा है। इसके अतिरिक्त संस्था, जनरीतियों, रूढ़ियों और विधियों का एक संचालित रूप है जो एक प्रतीक और कुछ निश्चित उद्देश्य रखती है, जिसमें कुछ नियम और एक नियम पद्धति

होती है, जो मनुष्य की सामूहिक क्रियाओं पर निर्भर है और उनको नियंत्रित करने का एक अधिक स्थिर यद्यपि अमूर्त साधन है।

11.2 सामाजिक संस्था

11.2.1 अर्थ एवं परिभाषाएं

समाजशास्त्रीय अर्थ में, 'संस्था' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम हरबर्ट स्पेन्सर ने किया था। श्री स्पेन्सर के अनुसार संस्था वह अंग है, जिसके माध्यम से समाज के कार्यों को क्रियान्वित किया जाता है, एण्डरसन के अनुसार, ''संस्था कुछ आदर्श नियमों का संग्रह है जो हमारी सामाजिक क्रियाओं के प्रमुख पक्षों से सम्बद्ध होता है,'' चाल्स कूले, संस्थाओं को अनेक आदर्श नियमों की व्यवस्था मानते हैं। विभिन्न समाजशास्त्रियों ने संस्था की भिन्नरुभिन्न परिभाषाए उपस्थिति की है।इनमें से कुछ परिभाषाए निम्नलिखित हैं

मैकाइवर के अनुसार ''संस्था एक ऐसा निश्चित संगठन है, जो किसी विशेष स्वार्थ का अनुसरण करता है।'' इस परिभाषा के अनुसार संस्था विशेष प्रयोजन से बनाया गया निश्चित संगठन है।

बोगार्डस ने लिखा है, ''एक सामाजिक संस्था का एक ढाचा होता है जो मुख्य रूप से सुव्यवस्थित विधियो द्वारा लोगों की आवश्यकता की पूर्ति के लिए संगठित किया जाता है।'' इस परिभाषा के अनुसार संस्था संगठन न होकर समाज का एक ढांचा है।

ग्रीन के अनुसार, '' एक संस्था कुछ जनरीतियों और रूढ़ियों (और प्रायः अधिकतर, परन्तु आवश्यक नहीं, विधियों) का ऐसा संगठन होता है जो अनेक सामाजिक कार्य करता है।'' वास्तव में संस्था को जनरितियों, रूढ़ियों और विधियों का संगठित रूप कहना ही अधिक उपयुक्त है।

समनर का मत है कि ''एक संस्था में एक विचारधारा (विचार, मत, सिद्धान्त या हित) और एक ढाॅंचा सम्मिलित है।''

वुडवर्ड और मैक्सवेल का मत है कि, 'सामाजशास्त्रीय भाषा में एक संस्था जनरीतियों और रूढ़ियों का समूह है जो किसी मानवीय साध्य या उद्देश्य की प्राप्ति में केन्द्रित होती है।'' संस्था की यह परिभाषा भी समीचीन है।

संस्था की उपर्युक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि संस्था के कुछ निश्चित उद्देश्य होते हैं। जिनके कारण वह समाज के लिए लाभदायक होती है। संक्षेप में, 'संस्था जनरीतियों, रूढ़ियों और विधियों का एक संगठित रूप है जो एक प्रतीक और कुछ निश्चित उद्देश्य रखती है, जिसमें कुछ नियम और एक नियम पद्धति होती है, जो मनुष्य की सामूहिक क्रियाओं पर निर्भर है और उनको नियन्त्रित करने का एक अधिक स्थिर यद्यपि अमूर्त साधन है।'' संस्था की इस परिभाषा में उसके सभी तत्व आ जाते हैं।

11.3 संस्था की विशेषतायें

संस्था की निम्नलिखित मुख्य विशेषताओं से संस्था का रूप और भी स्पष्ट होता है:

1.निश्चित उद्देश्य: संस्था के कुछ निश्चित उद्देश्य होते हैं जिनको प्राप्त करने के लिए वह बनाई जाती है।

2.प्रतीक: संस्था का एक प्रतीक है जो भौतिक भी हो सकता है और अभौतिक भी हो सकता है।

3.नियम: प्रत्येक संस्था के कुछ नियम होते हैं जिनको मानना व्यक्तियों कें लिए अनिवार्य होता है।

4.निश्चित नियम पद्धति: संस्था की एक निश्चित नियम पद्धति होती है जो इन रीतियों व रूढ़ियों के आधार पर बनाई जाती है।

5.सामूहिक क्रियाओं पर आधारित: संस्थाएँ मनुष्य की सामूहिक क्रियाओं पर निर्भर रहती है।

6.नियन्त्रण का अमूर्त साधन: संस्था मनुष्यों को नियन्त्रित करने का एक अमूर्त साधन है

7.अधिक स्थिर: संस्था सामाजिक नियन्त्रण के अन्य साधनों से अधिक स्थिर होती है।

8.प्रारम्भिक आवश्यकताओं की पूर्ति: संस्थाएँ प्रारम्भिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बनाई जाती हैं।

11.4 संस्था का सामाजिक महत्व

संस्था के सामाजिक महत्व के विषय में मैकाइवर ने लिखा है, ''यह सांस्कृतिक तत्वों को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को पहुचाती है, मनुष्य के व्यवहारों में एकता पायी जाती है, उनके आचरणों को नियन्त्रित करती है तथा परिस्थितियों के अनुसार मनुष्य को निर्देशित करती है।'' संस्था के सामाजिक महत्व के विषय में मुख्य रूप से निम्नलिखित बातें उल्लेखनीय हैं-

1.समाज में नैतिक आदर्श, ज्ञान तथा व्यवहारों के स्वरूप संस्था द्वारा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुचते हैं, इसमें नई पीढ़ी को अपनी समस्यायें सुलझाने में आसानी होती है।

2.संस्था मनुष्य को सही रास्ता दिखलाती है और उसके कार्यों पर नियन्त्रण रखती है।

3.संस्था में काम करने वाले व्यक्ति समाज में संस्था के विशेष स्थान के अनुसार स्थान प्राप्त कर लेते हैं।

4.संस्था के द्वारा समाज सामूहिक रूप में मनुष्यों को सामाजिक संस्कृति के अनुसार कार्य करने में बाध्य करता है।

11.5 भारतीय समाज की मूल संस्थाऐं

11.5.1 विवाह

सभी समाजों में विवाह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण संस्थाकृत सामाजिक सम्बन्ध है। विभिन्न संस्कृतियों में विवाह और यौन सम्बन्धों के साथ कई नियम तथा प्रतिबन्ध जुड़े हुए हैं।

विवाह एक पुरूष और स्त्री के बीच वैध यौन सम्बन्ध से कहीं अधिक है। विवाह समाज द्वारा मान्य व स्वीकृत मिलन है। भारत में आमतौर पर लोग यह मानते हैं कि विवाह दो व्यक्तियों तक ही सीमित नहीं है, परन्तु यही दो परिवारों के बीच अनुबन्ध स्थापित करने का माध्यम है। यह सही है कि विवाह द्वारा संतान को वैधता प्रदान की जाती है, इसके अलावा संतान को सामाजिक प्रस्थिति भी विवाह द्वारा दी जाती है, और यह सम्पति के हस्तान्तरण और उत्तराधिकार के संदर्भ में भी महत्वपूर्ण है।

विवाह के प्रकार

विवाह के विभिन्न प्रकार हैं, जैसे एक विवाह और बहुविवाह। एक विवाह प्रथा में एक पुरूष का एक स्त्री के साथ विवाह होता है, और यह विवाह का सामान्य आदर्श स्वरूप है। बहुविवाह प्रथा में बहुपत्नी और बहुपति दोनो प्रकार के विवाहों का समावेश है। बहुपत्नी विवाह में एक पुरूष के साथ एक से अधिक स्त्रियों का विवाह होता है, और बहुपति विवाह में एक स्त्री का एक से अधिक पुरूषों के साथ विवाह होता है। साली बहुपत्नी प्रथा में पाई जाती है। जिसके अन्तर्गत एक पुरूष का विवाह दो बहनों के साथ होता है। इन प्रकारों के अतिरिक्त भाभी

विवाह और साली विवाह की प्रथायें भी आती है। भाभी विवाह प्रथा के अन्तर्गत एक पुरूष का विवाह अपने मृत भाई की पत्नी के साथ होता है, ऐसा उसके विवाहित होने पर या वह विधुर है तब भी हो सकता है। अधिकार मान्य संहिता, निषेधात्मक रोक, अन्तःविवाह और बहिर्विवाह द्वारा चयन क्षेत्र पक्ष और कसौटियों को समझ सकते हैं। इन नियमों के अतिरिक्त जाति का भी अपने सदस्यों पर अधिक नियन्त्रण है, क्योंकि जाति अन्तर्विवाही समूह है। जाति दोषी सदस्यों को दण्ड दे सकती है और बहिष्कृत कर सकती है। अपनी जाति से बाहर के व्यक्ति को विवाह संगी चुनने के लिये स्वतन्त्रता प्रदान करने हेतु विशेष विवाह अधिनियम 1872 में पारित किया गया था। इस कानून को अधिक प्रभावकारी बनाने के लिये इसे 1923 में संशोधित भी किया गया था। तुदपरान्त 1938, 1946 और 1949 में जीवन साथी के चयन के क्षेत्र को विस्तृत करने के उद्देश्य से विभिन्न अधिनियम पारित किये गये थे इन अधिनियमों के पारित होने के बावजूद आज जाति समूहों का अनन्य रूप कायम है।

स्वतंत्रता के बाद भारत में जाति के नये आर्थिक, भावात्मक और मनोवैज्ञानिक प्रकार्य प्रभावी होने के बाद भी जाति का अन्तःवैवाहिक रूप बना हुआ है। परन्तु व्यावसायिक गतिशीलता, प्रवसन, शिक्षा, स्त्रियों और पुरूषों दोनों के लिये कार्यालयों तथा कारखानों में एक साथ कार्य करने के कारण कुछ लोगों में अन्तर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहन मिला है। 1955 के हिन्दू विवाह अधिनियम में वर्जित समबन्धों की सीमाओं को परिभाषित किया गया है, इनमें जाति अन्तःविवाह और गोत्र बहिर्विवाह के नियमों को पूर्णतः नकार दिया गया है।

आज सांस्कृतिक और संरचनात्मक दोनों कारणों से विवाह की आयु बढ़ गई है। शिक्षा और रोजगार लड़को के बराबर ही लड़कियों के लिये उपयोगी समझा जाने लगा। अनुलोम विवाह और इससे जुड़ी दहेज की समस्या के कारण भी विवाह की आयु में वृद्धि हुई है। लड़कियाँ खुद अपने जीवन साथी के चयन में आगे आने लगी हैं। इस प्रकार दृष्टिकोण और मूल्यों में परिवर्तन व चेतना में वृद्धि मुख्य सांस्कृति कारणों के रूप में, और शिक्षा, व्यवसाय, प्रवसन तथा दहेज संरचनात्मक कारणों के रूप में विवाह की उच्च आयु के लिये उत्तरदायी हैं।

हिन्दू विवाह एक धार्मिक संस्कार

धर्म, प्रजा (प्रजनन) और रति (आनन्द) हिन्दू विवाह के उद्देश्य हैं। विवाह के उद्देश्यों में यौन का तृतीय स्थान है। धर्म का स्थान प्रथम एवं सर्वोच्च है। प्रजनन को द्वितीय स्थान दिया गया है। पिता का नर्क में जाने से रोकने के लिए पुत्र प्राप्त करना भी विवाह का उद्देश्य है। विवाह के समय पंच महायज्ञ करने के लिए पवित्र अग्नि प्रज्वलित की जाती है। एक पुरूष को जीवन पर्यन्त अपनी पत्नी के साथ पूजा करनी पड़ती है। इस प्रकार विवाह मुख्यतः व्यक्ति के धर्म और उसके कर्तव्यों को पूरा करने के लिए है।

कापड़िया के अनुसार विवाह सम्पन्न करने के लिए होम या पवित्र अग्नि में पूजा करना, पाणिग्रहण या वधु का हाथ थामना, और सप्तपदी या वर-वधु का सात कदम साथ-साथ जाना मुख्य धार्मिक कृत्य हैं। पवित्र अग्नि की साक्षी में वैदिक मंत्रोच्चारण के द्वारा इन धार्मिक कृत्यों को पूरा किया जाता है। इस प्रकार हिन्दू विवाह एक धार्मिक कृत्य है क्योंकि स्त्री के लिए विवाह अनिवार्य समझा जाता है और उसको जीवन पर्यन्त अपने पति के संग धार्मिक कार्य पूरे करने पड़ते हैं। हिन्दू विवाह कोई साधारण घटना नहीं है, यह जीवन भर के लिए समझौता और व्यवस्थापन की संस्था है। 1955 के हिन्दू विवाह अधिनियम, सामाजिक, सांस्कृति चेतना, शिक्षा और शहरी रोजगार आदि के कारण हिन्दू विवाह के धार्मिक भाव में कमी आई है। लोग तलाक को स्वीकार करने लगे हैं। विधवा पुनर्विवाह भी अधिक होने लगे हैं। महिलायें पुरूषों के बराबर प्रस्थिति की माँग करने लगी हैं। इन परिवर्तनों के उपरान्त भी बहुत सीमा तक धार्मिकता विवाह से जुड़ी हुई है।

11.5.2 परिवार

भारत में परिवार एक महत्वपूर्ण संस्था है और अग्रणी प्राथमिक समूह रहा है क्योंकि एक ओर तो परिवार पितृतंत्रात्मक सत्ता का सहारा रहा है, और दूसरी तरफ परिवार प्रत्येक सदस्य (स्त्री सहित) के सम्पति के अधिकार का रक्षक बना हुआ है।

परिवार शब्द विभिन्न तरीकों से उपयोग किया गया है। ए.एम. शाह ने भारत में परिवार जीवन की कम से कम चार अंर्तसंबंधी सामाजिक स्थितियों का उल्लेख किया है। ये इस प्रकार हैं:

(1) व्यक्तियों का वह समूह जो घर में या एक मुखिया के अधीन माता-पिता, बच्चों व नौकरों आदि के साथ रहते हैं।

(2) माता-पिता और बच्चों का वह समूह जो एक साथ रहते हैं या नहीं भी रहते हैं।

(3) वे सब लोग परिवार में माने जाते हैं जो रक्त या विवाह द्वारा जुड़े हुए हैं।

(4) वे सब वंशज या वे लोग जो सामान्य पूर्वज के वंशज होने का दावा करते हैं, एक घर, बंधुजन, वशावली आदि परिवार में गिने जाते हैं।

प्रायः परिवार में एक पुरूष, उसकी पत्नी और उनकी अविवाहित संतान को शामिल किया जाता है। इस परिवार को मूल परिवार कहते हैं। ऐसा परिवार एक स्वतन्त्र इकाई हो सकता है, बिना अनिवार्यतः साथ रहे यह परिवार एक संयुक्त या वृहद् परिवार का अंग हो सकता है। प्रारंभिक (मूल) परिवार में स्वयं और उसकी संतान को मिलाकर दो पीढ़ियों के सदस्य रहते हैं।

संयुक्त परिवार

भारत में संयुक्त परिवार की प्रकृति के बारे में बहुत वादे-विवाद हुआ है। संयुक्त परिवार क्या है ? इरावती कर्वे के अनुसार- संयुक्त परिवार ऐसे लोगों का समूह है जो प्रायः एक ही छत के नीचे रहते हैं, एक ही रसोई में बना भोजन करते हैं, जिनकी सम्पत्ति संयुक्त और एक साथ पूजा करते हैं। जो एक-दूसरे से किसी विशिष्ट प्रकार के संबंधी की तरह जुड़े हुए हैं। संरचनात्मक दृष्टि से दो या अधिक मूल परिवारों का वंशजीय और पाश्र्वकीय दोनों दृष्टियों के साथ रहने को संयुक्त परिवार कहा जाता है। जब एक संयुक्त परिवार में दाद-दादी, माता-पिता और पोता-पोती रहते हैं तो ऐसे परिवार को वंशजीय संयुक्त परिवार कहते हैं। जब विवाहित भाई अपनी पत्नियों और संतानों के साथ रहते हैं तो ऐसे परिवार को पितृ-वंशीय संयुक्त परिवार की संज्ञा देते हैं। पितृ-वंशीय संयुक्त परिवार के अतिरिक्त मातृवंशीय संयुक्त परिवार भी पाए जाते हैं। जब एक या एक से अधिक पुत्र विवाह के बाद माता-पिता के साथ रहते हैं, तब परिवार अपनी एकाकी स्थिति से संयुक्त हो जाता है। जब विवाहित पुत्र अपने स्वतन्त्र घर बसाते हैं और अपनी अविवाहित संतान के साथ रहते हैं तो वे एकाकी परिवार होते हैं।

आयु, लिंग, बंधुता, प्रस्थिति, शिक्षा, व्यावसायिक प्रस्थिति, कार्य-स्थान, पद या शक्ति, वैवाहिक संबंधियों की प्रस्थिति आदि के आधार पर परिवार विविध और गतिशील अंतः परिवारीय संबंधों की अंतक्रियात्मक इकाई है। वृहद् संयुक्त परिवार अपने आप में एक छोटा सा संसार है और परिवार में वृहद् सामाजिक व्यवस्था की संघटक इकाई होने के कारण समाज का भाव परिलक्षित होता है। संयुक्त परिवार निम्न जाति और वर्ग की तुलना में उच्च जातियों और वर्गों में अधिक पाये जाते हैं। संयुक्त परिवार निरन्तर परिवर्तित होता रहा है परन्तु जीवित रहा है और प्रायः अनुकूलन की परिवर्तित क्षमताओं के साथ उभर आया है।

11.5.3 बंधुता

भारत में बंधुता की व्याख्या अन्तःपरिवारीय और वाह्य परिवारीय स्तरों पर अलग-अलग और बंधुता एवं परिवार के अभिबंध के सन्दर्भ में की जा सकती है। अन्तःपरिवारीय बंधुता में ''प्राथमिक संबंधियों'' को समाविष्ट किया जाता है। पति-पत्नी, पिता-पुत्र, माता-पुत्री, माता7पुत्र, पिता-पुत्र, बड़ा व छोटा भाई, बड़ी व छोटी बहन पर अन्त-परिवारीय संबंधों के रूप में बल दिया जाता है। ये संबंध एक ही एकाकी परिवार के अंग हैं और इन संबंधियों को ''प्रजनन परिवार'' की संज्ञा दी गई है। परिवार के बाहर ''द्वितीयक'' और ''तृतीयक'' संबंधी पाये जाते हैं। मर्डोक ने आठ ''प्राथमिक'' और तैंतीस ''द्वितीयक'' संबंधियों का उल्लेख किया है। प्रत्येक द्वितीयक संबंधी के प्राथमिक संबंधी होते हैं। तृतीयक संबंधियों में संभवतः 151 नातेदार होते हैं, और तृतीयक संबंधियों के अतिरिक्त ''दूर के संबंधी भी होते हैं।

भारत में प्रायः गोत्र बहिर्विवाह और जाति अन्तःविवाह होते हैं। एक जाति में अनेक गोत्र होते हैं और प्रत्येक गोत्र में अनेक वंशावलियाँ पाई जाती हैं। वंश के सदस्यों का सामान्य पूर्वज आमतौर पर एक वास्तविक, पहचान युक्त व्यक्ति होता है, परन्तु एक गोत्र का सामान्य पूर्वज काल्पनिक और अलौकिक व्यक्ति होता है।

11.5.4 नातेदारी

प्रत्येक समाज में पुरूष अपने जीवन में किसी न किसी समय एक पति, एक पिता एक पुत्र व एक भाई की भूमिका का निर्वाह करता है; और एक स्त्री एक पत्नी, एक माँ, एक पुत्री तथा एक बहिन की भूमिका का निर्वाह करती है। व्यक्ति दो एकाकी परिवारों से समबद्ध होता है, प्रत्येक व्यक्ति जनक परिवार और जनन परिवार के सदस्यों के बीच की कड़ी बनाए रखता है। इस प्रकार के बन्धन व्यक्तियों को एक दूसरे के साथ नातेदारी बन्धनों में बाँधते हैं।

'नातेदारी' की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती हैः ''वह सामाजिक सम्बन्ध जो पारिवारिक सम्बद्धता पर आधारित हो''। सम्बन्धों की प्रकृति, चाहे वह रक्तमूलक या विवाहमूलक नातेदारी हो, सम्बद्ध व्यक्तियों के अधिकारों व कत्र्तव्यों का निर्धारण करती है। 'नातेदारी समूह' वह समूह है 'जो रक्त या विवाह बन्धनों से बँधा हो'। ''सम्बन्धों की ऐसी संरचनात्मक व्यवस्था जिसमें नातेदार (स्वजन) एक दूसरे से बड़े जटिल अन्तःगठबन्धनों से बंधे हो''।

नातेदारी का महत्व

परिवार के बाद हिन्दुओं में नातेदारी समूह दैनिक जीवन में, संस्कारों में, तथा सामाजिक समारोहों में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं। नातेदारों के समूह में चार-पाँच से लेकर 25 या 30 परिवार तक सम्मिलित हो सकते हैं। परिवार के बाद महत्वपूर्ण नातेदारी समूह 'वंश' और गोत्र होते हैं।

'वंश' परिवार का विस्तृत स्वरूप है। यह एक रक्तमूलक एक शाखाई वंशक्रम समूह है, जिसके सदस्य ज्ञात सामान्य पूर्वज से जुड़े होते हैं। यह एक बहिर्विवाह इकाई होती है। एक ही वंश के सदस्य भाई की तरह होते हैं और एक दूसरे के प्रति भ्रातृत्व निष्ठा रखते हैं। यदि वंश के लोग एक ही गांव या पड़ोस में रहते हैं तो वंश परम्पराओं का निर्वाह होता है और वे लोग आर्थिक सहायता का आदान-प्रदान करते हैं, सभी मुख्य अवसरों का सहयोग करते हैं। एक वंश के परिवारों के बीच की प्रमुख कड़ी सांस्कृतिक समारोह होते हैं, जिनमें सभी लोग भाग लेते हैं। वे लोग एक ही देवी देवताओं की पूजा करते हैं और एक से निषेध का पालन करते हैं।

वंश 'गोत्र' के रूप में भी चलता है जो कि स्वयं में एक शाखाई नातेदारी समूह है, लेकिन वंश से अधिक विस्तृत है। इसका पूर्वज कल्पित व मिथकीय व्यक्ति होता है और यह बहिर्विवाह समूह है। प्रत्येक व्यक्ति अपने पिता के गोत्र का उत्तराधिकारी होता है।

भारत में नातेदारी व्यवस्था पर भाषा तथा जाति का प्रभाव पड़ा है। जाति व भाषाई समूह कभी-कभी व्यक्ति की सहायता कर सकते हैं, किन्तु प्रबल समर्थक, विश्वसनीय व वफादार लोग उसके नातेदार ही हो सकते हैं।

11.5.5 जाति

जाति एक प्राचीन सांस्कृतिक संस्थान है जो कि हजारों वर्षों से भारतीय इतिहास एवं संस्कृति का एक हिस्सा है। अंग्रेजी के शब्द कास्ट की उत्पत्ति पुर्तगालीमूल के शब्द कास्टा से हुई है। पुर्तगाली कास्टा का अर्थ है विशुद्ध नस्ल। अंग्रेजी शब्द कास्ट का अर्थ एक विस्तृत संस्थागत व्यवस्था से है जिसे भारतीय भाषाओं में (प्राचीन संस्कृत भाषा से प्रारंभ करते हुए) दो विभिन्न शब्दों-वर्ण और जाति के अर्थ में उपयोग किया जाता है। वर्ण, जिसका शाब्दिक तात्पर्य है 'रंग', समाज के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के चार श्रेणियों के विभाजन को कहा जाता है। जाति एक व्यापक शब्द है जो किसी भी चीज के प्रकार या वंश-श्रेणी (स्पीशीज) को संबोधित करने के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है। इसमें अचेतन वस्तुओं को लेकर पेड़-पौधों, जीव-जन्तु और मनुष्य भी शामिल होते हैं। भारतीय भाषाओं में जाति शब्द का प्रयोग सामान्यतः जाति संस्थान के संदर्भ में ही किया जाता है।

जाति की विशेषताएँ:

1.जाति, जन्म से निर्धारित होती है। एक बच्चा अपने माता-पिता की जाति में ही 'जन्म लेता' है। जाति कभी चुनाव का विषय नहीं होती। हम अपनी जाति को कभी भी बदल नहीं सकते, छोड़ नहीं सकते या हम इस बात का चुनाव नहीं कर सकते कि हमें जाति में शामिल होना है या नहीं।

2.जाति की सदस्यता के साथ विवाह संबंधी कठोर नियम शामिल होते हैं। जाति समूह 'सजातीय' होते हैं अर्थात् विवाह समूह के सदस्यों में ही हो सकते हैं।

3.जाति सदस्यता में खाने और खाना बाँटने के बारे में नियम भी शामिल होते हैं। किस प्रकार कर खाना खा सकते हैं और किस प्रकार का नहीं, यह निर्धारित है और किसके साथ खाना बाँटकर खाया जा सकता है यह भी निर्धारित होता है।

4.जाति में श्रेणी एवं प्रस्थिति के एक अधिक्रम में संयोजित अनेक जातियों की एक व्यवस्था शामिल होती है। सैद्धांतिक तौर पर हर व्यक्ति की एक जाति होती है और हर जाति का सभी जातियों के अधिक्रम में एक निर्धारित स्थान होता है। जहाँ अनेक जातियों की अधिक्रमित स्थिति, विशेषकर मध्यक्रम की श्रेणियों में, एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में बदल सकती हैं पर अधिक्रम हमेशा पाया जाता है।

5.जातियों में आपसी उप-विभाजन भी होता है अर्थात् जातियों में हमेशा उप-जातियाँ होती हैं और कभी-कभी उप-जातियों में भी उप-जातियाँ होती हैं। इसे खंडात्मक संगठन कहते हैं।

6.पारंपरिक तौर पर जातियाँ व्यवसाय से जुड़ी होती थीं। एक जाति में जन्म लेने वाला व्यक्ति उस जाति से जुड़े व्यवसाय को ही अपना सकता था, अतः व्यवसाय वंशानुगत होते थे अर्थात् यह पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तांतरित होते

थे। दूसरी ओर, एक विशेष व्यवसाय, किसी जाति से जुड़े होने की वजह से उसी जाति के लोग अपना सकते थे, किसी दूसरी जातियों के सदस्य वह काम नहीं कर सकते थें।

यह विशिष्टताएँ निर्धारित नियम हैं जो प्राचीन धर्म-ग्रंथों में पाये जाते हैं। चूकि यह निर्धारित नियम हमेशा व्यवहार में नहीं थें, हम यह नहीं कह सकते कि यह नियम किस सीमा तक जाति की आनुभाविक वास्तविकता अर्थात उस समय के लोगों के लिए इसका निश्चित अर्थ निर्धारित करते थे, जैसा कि आपके सामने है अधिकांश निर्धारित नियमों में प्रतिबंध शामिल थे। ऐतिहासिक सूत्रों से यह भी साफ तौर पर साबित होता है कि जाति एक बहुत असमान संस्था थी। जहाँ कुछ जातियों को तो इस व्यवस्था से बहुत लाभ रहा, वहीं अन्य जातियों को इसकी वजह से अधीनता एवं कमी भी न समाप्त होने वाले श्रम का जीवन जीने का दंड भुगतान पड़ा। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि जब जाति जन्म द्वारा कठोरता से निर्धारित हो गई उसके बाद किसी व्यक्ति के लिए सैद्धान्तिक तौर पर कभी भी उसकी जीवन स्थिति बदलना असंभव था। चाहे उच्च जाति के लोग उच्च स्तर के लायक हों या न हों, उनका स्तर हमेशा उच्च ही रहता था जबकि निम्न जाति के लोगों का स्तर हमेशा निम्न रहता था।

उपनिवेशवाद ने जाति संस्था में अनेक परिवर्तन किये। औपनिवेशिक काल में पूँजीवाद और आधुनिकता के प्रसार के कारण, भारत में ही नहीं बल्कि विश्वभर में तेजी से बदलाव आया।

11.5.6 धर्म

धार्मिक संस्थाओं का भी समाज में अपना महत्व है। प्रत्येक काल में प्रत्येक समाज में कुछ ऐसी शक्तियाँ रही हैं जो मनुष्य का चुनौती देती रही हैं तथा जिनके आगे मनुष्यका बस नहीं चलता। ऐसी स्थिति में वह एक अलौकिक शक्ति की आराधना करता है तथा अपनी आस्था व विश्वास द्वारा अप्रत्याशित स्थिति से संतुलन स्थापित करता है। जीवन और मृत्यु के समय मनुष्य असहाय रहता है, वहाँ सभी मानवीय समीकरण बे-असर होते हैं, अतः वहाँ ईश्वर का ही सहारा लेना होता है। प्रत्येक समाज में ईश्वर के नाम व धारणा अलग-अलग है। आदिम जन-जातियों में तो पेड़-पौधों, पशु-पक्षियों का टोटम माना है तथा ईश्वर के समान उनकी अराधना की जाती है। जीवन में संकट की घड़ी व अनिश्चितता अलौकिक शक्ति में विश्वास उत्पन्न करते हैं, यहाँ से धर्म की संस्था का उदय होता है। धर्म हमें संकट की घड़ी में मनोवैज्ञानिक सहारा देता है तथा हमें विषत स्थिति से निपटने का जरिया प्रदान करता है। धार्मिक संस्थाएँ (मन्दिर चर्च) किसी भी समाज में सामाजिक मूल्यों को भी दृढ़ता प्रदान करती हैं। भारत में हम देखते है कि धर्म की संस्था अधिक प्रभावी है, जन्म से लेकर मृत्यु तक धार्मिक संस्कार होते हैं। कितना भी आधुनिक और भव्य भवन क्यों नहीं बनाया जाए प्रायः प्रत्येक व्यक्ति अपने इष्ट देव की मूर्ति उस भवन में स्थापित करता है।

11.5 सारांश

प्रस्तुत इकाई में भारतीय सामाजिक संस्थाओं के अर्थ, परिभाषा का अध्ययन किया। सामाजिक संस्थाओं की विशेषताओं तथा सामाजिक महत्व के विषय में ज्ञान प्राप्त किया। तत्पश्चात् भारतीय समाज की मूलभूत संस्थाओं विवाह, परिवार, बंधुता, नातेदारी, जाति तथा धर्म के विषय में अध्ययन किया।

11.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. भारतीय सामाजिक संस्थाओं से क्या आशय है ? अर्थ एवं परिभाषा सहित वर्णन कीजिए।
2. सामाजिक संस्था की अवधारणा का वर्णन कीजिए। संस्था के सामाजिक महत्व पर प्रकाश डालिए।

3. भारतीय सामाजिक संस्थाओं की विशेषताओं की व्याख्या कीजिए।

4. सामाजिक संस्थाओं में विवाह के महत्व पर प्रकाश डालिए।

5. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए।

   प) परिवार

   पप) जाति

11.7 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. सिंह, डी. के., पालीवाल, एस एवं मिश्र, आर. (2010) मानव समाजः संगठन एवम् विघटन के मूल तत्वः न्यू रायल बुक कम्पनीः लखनऊ

2. सिंह, ए. के. (2009) उच्चतर सामान्य मनोविज्ञान, मोतीलाल बनारसीदास: नई दिल्ली

3. सिंह एस. के. (2010) जाति व्यवस्था: निरंतरता एवं परिवर्तन, रावत पब्लिकेशनः जयपुर

4. मिश्र, पी.डी. (2003) व्यक्ति और समाज, न्यू राॅयल बुक कम्पनी: लखनऊ

5. मिश्र, पी.डी. एवं मिश्रा बी. (2004) सोशल वर्क प्रोफेशन इन इण्डिया, न्यू राॅयल बुक कम्पनी: लखनऊ

6. महाजन, एस. (2010) सामाजिक समस्याएं, अर्जुन पब्लिसिंग हाउसः नई दिल्ली

7. यादव आर. (2005) सामाजिक समस्याएं, अर्जुन पब्लिशिंग हाउसः नई दिल्ली

8. सिंह, अरुण कुमार, समाजशास्त्र की मूलभूत अवधारणायें, न्यूरायल बुक कम्पनी, लखनऊ 2009

9. अग्रवाल, जी. के. एवं पाण्डेय, एस.एस., ग्रामीण समाजशास्त्र, साहित्य भवन पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स प्रा. लि., 2006

इकाई -12

विवाह

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य
12.1 प्रस्तावना
12.2 विवाह
12.3 विवाह के प्रकार
12.4 विवाह के उद्देश्य
12.5 विवाह का महत्व
12.6 विवाह में होने वाले आधुनिक परिवर्तन
12.7 हिन्दू विवाह के स्वरूप (विधियाँ)
12.8 हिन्दू विवाह के नियम
12.9 मुसलमानों में विवाह
12.10 ईसाइयों में विवाह
12.11 सारांश
12.12 अभ्यासार्थ प्रश्न
12.13 सन्दर्भ ग्रन्थ

12.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के पश्चात् आप-

1.विवाह के अर्थ, प्रकार,उद्देश्य तथा महत्व को समझ सकेंगे।

2. विवाह में होने वाले आधुनिक परिवर्तन, हिन्दू विवाह के स्वरूप तथा हिन्दू विवाह के नियमो से अवगत हो सकेंगे।

3.इसके पश्चात् मुस्लिम एवं ईसाईयों के विवाह तथा इनमें आये आधुनिक परिवर्तन के बारे में जान सकेंगे।

12.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में विवाह पर चर्चा की गई है। विवाह संस्था का सम्बन्ध एक विशेष सामाजिक स्वीकृति से है। जो साधारणतया कानूनी स्वीकृति अथवा धार्मिक संस्कार के रूप में होती है और जो विषय लिंग के व्यक्तियों को यौनिक सम्बंधों को स्थापित करने और उनसे सम्बन्धित सामाजिक तथा आर्थिक सम्बन्धों का उन्हें अधिकार देती है। इसके अतिरिक्त विवाह एक या अधिक पुरूषों का एक या अधिक स्त्रियों के साथ होने वाला वह सम्बंध है जिसे प्रथा या कानून स्वीकार करता है और जिसमें इस संगठन में आने वाले दोनों पक्षों एवं उनसे उत्पन्न बच्चों के अधिकार एवं कर्तव्यों का समावेश होता है। मुस्लिम विवाह एक कानूनी संविदा है जिसके लिए न तो किसी मुल्ला की आवश्यकता है न ही किसी धार्मिक कर्मकाण्ड की। ईसाई विवाह समाज में एक प्रमुख तथा एक स्त्री के बीच

एक समझौता है, जो साधारणतः सम्पूर्ण जीवन भर के लिए होता है, और इसका उद्देश्य यौन सम्बन्ध पारस्परिक सहयोग और परिवार की स्थापना करना है।

12.2 विवाह

सामाजिक संस्थाओं में विवाह एक महत्वपूर्ण एवं प्राचीन संस्था है। जिसके अभाव में मानव सभ्यता का आस्तित्व सम्भव नहीं है। यौन इच्छा की संतुष्टि, शारीरिक एवं मानसिक विकास के लिए आवश्यक होती है। स्त्री-पुरुष दोनों के लिए यौन सन्तुष्टि मौलिक आवश्यकता है। यही कारण है कि दोनों एक-दूसरे को जीवन साथी के रूप में चुनते हैं और समाज में इस मैत्री को विवाह के नाम से जाना जाता है।

12.2.1 विवाह का अर्थ एवं परिभाषा

मनु विवाह को यौन सम्बन्धों के नियन्त्रण एवं शारीरिक सुख के लिए आवश्यक मानते है। विवाह के द्वारा यौन सन्तुष्टि के अलावा सन्तानोपत्ति, संस्कृति का हस्तान्तरण इत्यादि कार्य होते हैं, जो समाज के लिए आवश्यक है। विद्वानों ने विवाह संस्था को अनेक प्रकार से परिभाषित किया है। इससे सम्बन्धित परिभाषायें निम्न हैः

गिलिन एवं गिलिन के अनुसार, ''विवाह सन्तानोपत्ति के लिए परिवार को निर्मित करने का एक सामाजिक मान्यता प्राप्त तरीका है।''

हावेल के अनुसार, ''विवाह सामाजिक आदर्श नियमों की एक समग्रता है। जो विवाहित व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों को उनके रक्त सम्बन्धियों और अन्य नातेदारों के प्रति परिभाषित करती हैं और उन पर नियन्त्रण रखती हैं।''

मजूमदार एवं मदन के अनुसार, ''विवाह संस्था का सम्बन्ध एक विशेष सामाजिक स्वीकृति से है। जो साधारणतया कानूनी स्वीकृति अथवा धार्मिक संस्कार के रूप में होती है और जो विषम लिंग के व्यक्तियों को यौनिक सम्बन्धों को स्थापित करने और उनसे सम्बन्धित सामाजिक तथा आर्थिक सम्बन्धों का उन्हें अधिकार देती है।''

बोगार्डस के अनुसार, ''विवाह स्त्री और पुरूष के पारिवारिक जीवन के प्रवेश की एक संस्था है।''

वेस्टरमार्क के अनुसार, ''विवाह एक या अधिक पुरूषों का एक या अधिक स्त्रियों के साथ होने वाला वह सम्बन्ध है जिसे प्रथा या कानून स्वीकार करता है और जिसमें इस संगठन में आने वाले दोनों पक्षों एवं उनसे उत्पन्न बच्चों के अधिकार एवं कर्तव्यों का समावेश होता है।

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है। कि विवाहों में दो विषम-लिंगियों के बीच होने वाले यौन सम्बन्धों को सामाजिक, वैधानिक स्वीकृति होती है। इन सम्बन्धों के परिणामस्वरूप स्त्री-पुरुष में पारस्परिक कर्तव्यों और अधिकारों का सृजन एवं समन्वय होता है।

12.3. विवाह के प्रकार

समाज में भौगोलिक दशायें, सांस्कृति एवं सामाजिक भिन्नताओं, तथा मानव सभ्यता के विकास में विवाह के विभिन्न स्वरूप अस्तित्व में आये हैं। विवाह के विभिन्न प्रकार निम्नलिखित हैं:

1. एक विवाह

विवाह का यह स्वरूप बहुत ही महत्व रखता है। इस विवाह में एक पुरुष एक स्त्री के साथ तथा एक स्त्री एक पुरुष के साथ ही विवाह कर सकती है। बुकेनोविक के अनुसार, ''उस विवाह को एक विवाह कहना चाहिए जिसमें व्यक्ति का सिर्फ एक ही जीवन साथी होना चाहिए।'' दोनों में से किसी की मृत्यु हो जाये फिर भी दुसरा साथी अन्य विवाह नहीं कर सकता है। मैलिनोक्सकी ने ''एक विवाह को ही विवाह का आदि रूप माना है। एक विवाह का

सच्चा स्वरूप है। सामाजिक सभ्यता के विकास तथा सामाजिक चेतना के फलस्वरूप एक विवाह का प्रचलन बढ़ता जा रहा है।

2. बहु विवाह

विवाह की इस व्यवस्था में एक से अधिक पुरुष और स्त्रियां विवाह बन्धन में बंधती है। तो इस प्रकार के विवाह को बहु-विवाह कहते है। बहु प्रकार के स्वरूप पाये जाते हैं। जिनका विवरण निम्नलिखित है:

(क) बहुपति विवाह

जब कई पुरुषों की एक ही पत्नी होती है या एक स्त्री के एक से अधिक पुरुष पति होते है। तो इस प्रकार के वैवाहिक सम्बन्ध को बहुपति विवाह कहते है। कई समाज में इसका प्रचलन है। जहाँ पर पुरूषों के अनुपात में स्त्रियों की संख्या कम है या जहाँ व्यक्ति बहुत ही गरीब है। विवाह की यह परम्परा तिब्बत, नेयर, लद्दाख, टिहरी गढ़वाल में पायी जाती है। इसके अलावा कुछ राजपूत प्रजातियों, तमिलनाडु में तियान, इटावा, मालवार, के नायर, सन्थाल एवं उराव जनजीतियों में प्रचलित रही है। परन्तु वर्तमान में धीरे-धीरे इस प्रकार के विवाह की प्रथा समाप्त हो रही है। बहुपति विवाह के भी दो स्वरूप पाये जाते है।

भ्रातक बहुपति विवाह

इस प्रकार के विवाह में कई भाई मिलकर एक स्त्री से विवाह करते है या बड़ा भाई एक स्त्री से विवाह करता है और उसके अन्य भाई स्वतः ही उस स्त्री के पति माने जाते हैं। इसके साथ-साथ यदि स्त्री के कोई सन्तान न हो तो उस स्त्री की बहन को पत्नी बना लिया जाता है और सभी भाई उसके पति माने जाते हैं और होने वाली सन्तानों के सभी भाई पिता माने जाते हैं। परन्तु सामाजिक रूप से पितृत्व बड़े भाई को मिलता है या प्रभावशाली एवं प्रसिद्ध भाई ही सामाजिक रूप से पिता की भूमिका निभाता है। इस प्रकार के विवाह का प्रचलन टोडा, खस, कोटा प्रजाति में पायी जाती है।

अभ्रातक बहुपति विवाह

विवाह को इस परम्परा मे भी एक स्त्री के अनेक पति होते है। किन्तु वे आपस में भाई नहीं होते है। वे अलग-अलग स्थानों के होते है। पत्नी समान अवधि के लिए प्रत्येक पति के साथ रहती है। विवाह की यह प्रथा मालावार के नायरो तथा देहरादून के ब्राबर में प्रचलित है।

(ख) बहु पत्नी विवाह

बहु पत्नी विवाह बहु विवाह का ही एक स्वरूप है। इस प्रकार के विवाह में पुरुष एक से अधिक महिलाओं से विवाह करता है। भारत मे यह परम्परा काफी प्राचीन समय से चली आ रही है तथा वर्तमान समय में भी प्रचलन में है। इस प्रकार के विवाह में भी दो स्वरूप देखने को मिलते है। जब पत्नी की मृत्यु हो जाती है। तो पुरुष दूसरा विवाह करता है। दूसरे स्वरूप में सन्तान के अभाव में या विलासिता के फलस्वरूप पुरुष एक से अधिक महिलाओं से विवाह करता है।

3. समूह विवाह

विवाह के इस स्वरूप में 2 से 6 व्यक्ति मिलकर 2 से 6 महिलाओं से विवाह करते थे। इस प्रकार के विवाह में समूह के सभी पुरुषों को स्त्री समूह की सभी महिलाओं के साथ यौन सम्बन्ध होता था। विवाह की यह प्रथा आस्ट्रेलिया की जनजातियों में पायी जाती है। जहाँ पर एक परिवार की सभी लडकियाँ दूसरे परिवार की पत्नियाँ समझी जाती है। इसके अलावा भारत, तिब्बत तथा श्रीलंका में भी ऐसे विवाह प्रचलित थे। परन्तु इस प्रकार के विवाह आधुनिक सभ्यता में नहीं है।

12.4 विवाह के उद्देश्य

विवाह को धार्मिक एवं सामाजिक उद्देश्यों को पूरा करने के लिए इसकी आवश्यकता को स्वीकार किया गया है। संसार मे सभी धर्म एवं जातियों में विवाह की महत्ता है। और सभी के उद्देश्यांे के बारे में वर्णन कर रहे है।

1. यौन इच्छाओं की सन्तुष्टि

समाज में यौन इच्छाओं या व्यवहारों को नियन्त्रित करने के लिए विवाह एक उपर्युक्त एवं सर्वोत्तम तरीका है। विवाह के माध्यम से होने वाले यौन सम्बन्धों में पवित्रता रहती है तथा यौन व्यवहारों को नियन्त्रित किया जा सकता है।

2. परिवार की सम्पूर्णता

विवाह के द्वारा ही एक परिवार में सम्पूर्णता आती है तथा व्यक्ति अपनी पारिवारिक जिम्मेदारी एवं दायित्वों को समझता है। तथा अपनी नैतिक एवं सामाजिक कर्तव्यों को पूरा करने का प्रयास करता है। यह सब विवाह के द्वारा ही सम्भव है। क्योंकि विवाह व्यक्ति को जीवन के समस्त अनुभवों से परिचित कराता है।

3. सन्तानोपत्ति

विवाह के द्वारा व्यक्ति सन्तानों की उत्पत्ति करता है। जिससे वंश आगे चलता है। मृत व्यक्तियों के द्वारा रिक्त किये गये स्थान को सन्तानों की उत्पत्ति के द्वारा ही भरा जा सकता है। संस्कृति, सभ्यता की निरन्तरता बनाये रखने के लिए यह आवश्यक कि सन्तानोपत्ति हो और यह विवाह के द्वारा ही सम्भव है। इसके अतिरिक्त बच्चों का पालन-पोषण उनकी शिक्षा-दीक्षा का कार्य भी परिवार के द्वारा होती है। परिवार में इस कार्य की जिम्मेदारी माता-पिता की होती है।

4. व्यक्तित्व में परिवर्तन

विवाह के पश्चात् स्त्री और पुरुष दोनों के ही व्यक्तित्व में परिवर्तन आता है। क्योंकि विवाह के पूर्व दोनों के जीवन में स्वतंत्रता होती हैं अपनी मर्जी से जीवन जीते है। परन्तु विवाह के पश्चात् पति-पत्नी नये जीवन में प्रवेश करते हैं। दोनों को नयी-नयी जिम्म्मेदारियाँ एवं पद प्राप्त होते है। जिनके अनुसार वे अपने आप को ढालते है। इस प्रकार व्यक्तित्व परिवर्तन सकारात्मक और ऊर्जा से भरा होता है।

5. संस्कृति का पीढी दर पीढी हस्तान्तरण

विवाह के द्वारा पीढीयों का विकास होता है। पीढीयों के निरन्तर विकास के द्वारा संस्कृति का स्तिांतरण भी होता हैं जिससे सांस्कृतिक विरासत सुरक्षित रूप में ण्क पीढी से दुसरी पीढ़ी में पहुँचती रहती है। संस्कृति के हस्तान्तरण में ज्ञान, प्रथायें, रीति-रिवाज इत्यादि हस्तान्तरित होते है।

12.5 विवाह का महत्व

विवाह सामाजिक जीवन की एक महत्वपूर्ण संस्था है। जिसके महत्व को सभी विद्वानों ने स्वीकार किया है। विवाह के द्वारा सामाजिक ज्ञान एवं आनन्द की प्राप्ति करता है। विवाह के महत्व का वर्णन निम्न है।

1. शारीरिक आवश्यकता

मनुष्य की मौलिक आवश्यकताओं में यौन सन्तुष्टि भी एक मौलिक आवश्यकता है। विवाह के माध्यम से कामवासना की सन्तुष्टि प्राप्त होती है। यौन सन्तुष्टि व्यक्तित्व विकास का आधार है। जोकि व्यवस्थित विकास के लिए आवश्यक हैं।

2. मनोवैज्ञानिक उन्नति एवं समायोजन

विवाह के पश्चात् व्यक्ति के जीवन में स्थिरता आती हैं व्यक्ति की मानसिक आवश्यकताओं जैसे- प्रेम, वात्सल्य, आत्मीयता, अपनत्व आदि की पूर्ति होती है तथा मानसिक संरचना का आधार है। जिससे जीवन की वास्तविकताओं का ज्ञान होता है।

3. पितृत्व की महत्ता

विवाह के द्वारा सबसे महत्वपूर्ण कार्यो में बच्चों को वैध स्वरूप प्रदान करता है। विवाह के द्वारा बच्चे के पितृत्व का निर्धारण किया जाता है। वंशवाद की परम्परा का विस्तार होता है तथा सामाजिक मर्यादा एवं पवित्रता बनी रहती है। वैध सन्तान को सामाजिक स्वीकृति प्राप्ति होती है तथा अवैध सन्तान को सामाजिक स्वीकृति प्राप्ति नहीं होती जिसके फलस्वरूप असमाजिक व्यक्तित्व बढ़ते है। जो समाज को विघटन की ओर ले जाते है।

4. सामाजिक सम्बन्धों का विकास

विवाह के द्वारा सम्बन्धों का विकास हुआ है। नये-नये रिश्तों का निर्धारण हुआ हैै। विवाह के पूर्व सम्बन्धों में एक अपूर्णता रहती है। जोकि विवाह के पश्चात् पूर्ण होती है। विवाह के द्वारा रक्त सम्बन्धों एवं नातेदारी को परिभाषित किया जाता है। बालक में नैतिक गुणों, सही गलत की समझ, तथा आदर्शों की समझ पैदा होती है। जिसके फलस्वरूप अन्य व्यक्तियों के साथ एकरुपता स्थापित करता है। नई भूमिकाओं को ग्रहण करता है जिसके द्वारा सभ्यता संस्कृति का विकास होता है।

5. सामाजीकरण एवं संस्कृतिकरण

विवाह के द्वारा व्यक्ति के अन्दर सामाजिक गुणों का समावेश होता है जिसके फलस्वरूप व्यक्ति का सामाजीकरण होता है। इसके तहत दो परिवारों के संस्कृति के द्वारा सांस्कृतिक गुणों में स्थिरता आती है तथा सांस्कृतिकरण होता है।

12.6 विवाह में होने वाले आधुनिक परिवर्तन

नगरीकरण और औद्योगीकरण के फलस्वरूप विवाह संस्था में कई परिवर्तन आये है। जोकि निम्न स्तरों पर दिखायी पड़ते हैं।

1. मनोवृत्ति एवं व्यवहार

महिला सशक्तीकरण ने महिलाओं को सशक्त बनाया है। जिससे पुरुष-स्त्री समानता मंे बढ़ोत्तरी हो रही है। विवाह के पूर्व यौन सम्बन्धों को स्वीकृति मिल रही है तथा विवाहोत्तर सम्बन्ध भी पाये जाते है। परिवार में दम्पत्ति भविष्य की चिन्ता के लिए कम बच्चों को प्राथमिकता देते हैं तथा उनके पालन-पोषण के लिए संस्थाओं का सहयोग लिलता है।

2. उपयोगितावादी प्रवृत्ति

वर्तमान परिवारों के दम्पत्ति अपनी सुविधा के लिए व्यवसायिक सेवाओं का सहयोग लेते हैं। परिवार नियोजन के साधनों का प्रयोग सन्तति निरोध के साथ-साथ आनन्द प्राप्ति का साधन भी हो गया है।

3. धार्मिकता का अभाव

विवाह में धार्मिक परम्पराओं में कमी आयी है। रीति-रिवाजों के प्रति लोगों का लगाव कम हुआ है। विवाह में दिखावा एवं प्रदर्शन की बढोत्तरी हुई है। स्त्री-पुरुष के वस्त्रों एवं पहनावे में परिवर्तन हुए हैं तथा मांगलिक चिन्हों एवं धार्मिक क्रियाकलापों में कमी आयी है।

12.7 हिन्दू विवाह के स्वरूप (विधियाँ)

विवाह के स्वरूप से हमारा तात्पर्य विवाह बन्धन में बंधने की विभिन्न विधियों से है। मनु स्मृति, ग्रह्य सूत्रों तथा धर्म सूत्रों में भी इनका उल्लेख मिलता है। मुख्य रूप से आठ विधियाँ हैं

1. ब्राह्म विवाह

ब्राह्म विवाह सभी प्रकार के विवाहों में श्रेष्ठ माना गया है। मनु के अनुसार ''वेदों के ज्ञाता शीलवान वर को स्वयं बुलाकर वस्त्र एवं आभूषण आदि से सुसज्जित कर पूजा एवं धार्मिक विधि से कन्या दान करना ही ब्राह्म विवाह है।'' याज्ञवल्क्य के अनुसार ब्राह्म विवाह उसको कहते हैं जिसमें वर को बुलाकर अपनी शक्ति के अनुसार अलंकारों से अलंकृत कर कन्या दान कर दिया जाता है। ऐसे विवाह से उत्पन्न पुत्र इक्कीस पीढ़ियों को पवित्र करने वाला होता है।

2. दैव विवाह

मनुस्मृति में लिखा है ''सद्कर्म में लगे पुरोहित को जब वस्त्र और आभूषणों से अलंकृत कन्या दी जाती है तो इसे दैव विवाह कहते हैं।'' प्राचीनकाल में यज्ञ और अनुष्ठानों का अत्यधिक महत्व था तथा जो ऋषि या पुरोहित इन पवित्र धार्मिक कार्यों को सम्पन्न कराता था यजमान उससे अपनी कन्या का विवाह कर देता था। देव विवाह वैदिक यज्ञों के साथ-साथ लुप्त हो गए।

3. आर्ष विवाह

मनु के अनुसार इस प्रकार के विवाहों में वर अपने श्वसुर को एक गाय और एक बैल अथवा इनके दो जोड़े देता था और पत्नी प्राप्त करता था। याज्ञवल्क्य के अनुसार जब दो गाय लेकर कन्यादान किया जाये तो उसे आर्ष विवाह कहते हैं। आर्ष का सम्बनध ऋषि ..... है। जब कोई ऋषि किसी कन्या के पिता को गाय और बैल भेंट के रूप में देता था तो यह समझ लिया जाता था कि अब उसने विवाह करने का निश्चय कर लिया है। वर्तमान में इसका प्रचलन नहीं है।

4. प्रजापत्य विवाह

प्रजापतय विवाह वह विवाह है जिसमें कन्या का पिता वर को कन्यादान करते हुए कहता है ''तुम दोनों एक साथ मिलकर आजीवन धर्म का आचरण करो।'' इस प्रकार के विवाह से उत्पन्न सन्तान अपने वंश की बारह पीढ़ियों को पवित्र करती है। ऐसा याज्ञवल्क्य का मानना है।

5. असुर विवाह

मनु के अनुसार ''कन्या के परिवार वालों एवं कन्या को अपनी शक्ति के अनुसार धन देकर अपनी इच्छा से कन्या को ग्रहण करना असुर विवाह कहा जाता है।'' कन्या मूल्य देकर सम्पन्न सभी विवाह असुर विवाह की श्रेणी में आते हैं।

6. गन्धर्व विवाह

मनु के अनुसार ''कन्या और वर की इच्छा से पारस्परिक प्रेम द्वारा काम और मैथुन भावों से जो विवाह किया जाए उसे गन्धर्व विवाह कहते हैं।'' याज्ञवल्क्य के अनुसार ''प्रेम द्वारा होने वाले विवाह को गन्धर्व विवाह कहते हैं।'' आधुनिक समय में इसे प्रेम-विवाह कहते हैं। यह वर और वधु की स्वतंत्र इच्छा पर आधारित है।

7. राक्षस विवाह

मनु के अनुसार युद्ध में स्त्री का हरण करके उससे विवाह किया जाता है तो वह विवाह राक्षस विवाह कहलाता है। विभिन्न समाजों में प्राचीनकाल में युद्ध अधिक हुआ करते थे तथा स्त्री के पुरस्कार माना जाता था। महाभारत काल में ऐसे विवाहों के अनेक उदाहरण मिलते हैं। जैसे श्री कृष्ण का रूकमणी तथा अर्जुन का सुभद्रा के साथ आदि।

8. पैशाच विवाह

मनु ने पैशाच विवाह की निम्न व्याख्या की है ''सोई हुई, उन्मुक्त, घबराई हुई, मदिरा पान की हुई या राह में जाती हुई लड़की के साथ बलपूर्वक कुकृत्य करने के बाद उससे विवाह करना पैशाच विवाह है। किन्तु इस प्रकार

के विवाह को लड़की का दोष न होने के कारण तथा कौमार्य भंग हो जाने के बाद उसे सामाजिक बहिष्कार से बचाने एवं उसका सामाजिक सम्मान बनाये रखने के लिये ही स्वीकृति प्रदान की गई है।''

मजूमदार कहते है कि उपयुक्त आठ प्रकार के विवाह में ब्राह्म विवाह सर्वोत्तम दैव और प्रजापतय का मध्यम, आर्ष, असुर और गन्धर्व को निकृष्ट तथा राक्षस और पैशाच विवाह को महाभ्रष्ट विवाह माना गया है।

12.8 हिन्दू विवाह के नियम

हिन्दू विवाह एक ऐसी सामाजिक संस्था है जिसमें अनेक निषेध के अधीन जीवन-साथी का चुनाव किया जाता है। हिन्दू समाज में विवाह सम्बन्धी चार नियम हैं।

1. अन्तर्विवाह
2. बहिर्विवाह
3. अनुलोम
4. प्रतिलोम

1. अन्तर्विवाह

इसके अन्तर्गत एक व्यक्ति अपने समूह में ही विवाह करता है। वैदिक और उत्तर वैदिक काल में द्विज जातियों का एक वर्ण था और यह लोग अपने वर्ण में विवाह करते थे। किन्तु जब एक वर्ण कई जातियो और उपजातियों में विभक्त हुआ तो विवाह का दायरा सीमित हो गया। लोग अपनी ही जातियों या उपजातियों में विवाह करने लगे जिसे अन्तर्विवाह कहते हैं।

अन्तर्विवाह के कई कारण थे जिसमें प्रमुख है- बौद्ध और जैन धर्म मानने वालों का विभेद और अधिक हो गया और अतर्विवाह के द्वारा अपने-अपने को पृथक् रखने का प्रयत्न किया गया। इसके अतिरिक्त प्रजाति मिश्रण पर रोक सांस्कृतिक भिन्नता को बनाये रखना, जन्म का महत्व, उपजातियों का केन्द्रीकरण व्यावसायिक ज्ञान की सुरक्षा, बाल विवाह का प्रचलन आदि।

उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त व्यक्ति का अपनी ही जाति के प्रति लगाव, जाति से बहिष्कृत किये जाने का डर तथा जाति पंचायत एवं ग्राम पंचायत द्वारा जातीय नियमों का कठोरता से लागू करना आदि के कारण अन्तर्विवाह के नियमों का पालन बढ़ता गया।

वर्तमान में नगरीकरण, औद्योगीकरण, यातायात एवं संचारवाहन के साधनो के विकास के कारण अन्तर्विवाह के नियम शिथिल होते जा रहे हैं।

2. बहिर्विवाह

बहिर्विवाह से तात्पर्य है कि एक व्यक्ति जिस समूह का सदस्य है उससे बाहर विवाह करे। हिन्दुओं में बहिर्विवाह के नियमों के अनुसार एक व्यक्ति को अपने परिवार, गोत्र, प्रवर, पिण्ड के कुछ समूहों से बाहर विवाह करना चाहिए।

हिन्दुओं में बहिर्विवाह के निम्नलिखित प्रकार प्रचलित हैं-

प. गोत्र बहिर्विवाह

पप. सप्रवर बहिर्विवाह

पपप. सपिण्ड बहिर्विवाह

प. गोत्र बहिर्विवाह

हिन्दुओं मेे सगोत्र विवाह निषेध है। गोत्र का सामान्य अर्थ उन व्यक्तियों के समूह से है जिनकी उत्पत्ति एक ही ऋषि पूर्वज से हुई हो। गोत्र शब्द के तीन या चार अर्थ हैं जैसे गौशाला, गायों का समूह, किला तथा पर्वत आदि। इस प्रकार एक घेरे या स्थान पर रहने वाले लोगों में परस्पर विवाह वर्जित था।

स्मृतिकारों ने सगोत्र विवाह करने वालों के लिये अनेक दण्ड, प्रायश्चित एवं जाति से बहिष्कृत करने की व्यवस्था की है। हिन्दू विवाह अधिनियम द्वारा वर्तमान में सगोत्र विवाह से प्रतिबन्ध हटा दिये गए हैं किन्तु व्यवहार में आज भी इसका प्रचचलन है।

पप. सप्रवर बहिर्विवाह

पी. एन. प्रभु का मत है कि प्राचीन समय में अग्नि और हवन का प्रचलन था। हवन करने के लिये अग्नि प्रज्वलित करते समय पुरोहित अपने ऋषि पूर्वजों का नामोच्चारण करते थे। इस प्रकार समान पूर्वज के नाम का उच्चारण करने वाले व्यक्ति अपने को एक प्रवर का सम्बन्धी मानते हैं अतः वह परस्पर विवाह नहीं कर सकते।

हिन्दू विवाह अधिनियमों द्वारा अप्रवर विवाह सम्बन्धी निषेधों को समाप्त कर दिया गया है।

पपप. सपिण्ड बहिर्विवाह

हिन्दुओं में सपिण्ड विवाह निषेध है। सपिण्ड का अर्थ-समान पिण्ड या देह वाला। मिताक्षरा व कर्वे के अनुसार सपिण्ड का अर्थ है मृत व्यक्ति को पिण्डदान देने वाले सभी सदस्य सपिण्ड हैं अथवा मृत व्यक्ति के रक्त-कण से सम्बन्धित आदि सपिण्ड है। पिता-पुत्र, दादा-पोता, माता-पुत्र, नानी-दोहता आदि सपिण्ड सम्बन्धी हैं। एक निश्चित पीढ़ी तक के सदस्य सपिण्ड कहलाते हैं। निकट सम्बन्धियों तथा सपिण्ड सम्बन्धियों में विवाह निषेध रहे हैं। वशिष्ट के अनुसार पिता की ओर से सात तथा माता की ओर से पाँच पीढ़ियों तक के सम्बन्धियों में विवाह करना वर्जित था। अगर कोई सपिण्ड विवाह करता है तो गौतम के अनुसार उसे जाति से निकाल देना चाहिये।

3. अनुलोम विवाह

अगर वर वधू से उच्च सामाजिक श्रेणी, वर्ण जाति, वर्ग अथवा कुल का है तो ऐसा विवाह अनुलोम विवाह या कुलीन विवाह कहलाता है। इसमें उच्च सामाजिक स्थिति का वर होता है तथा निम्न सामाजिक स्थिति की वधू होती है।

अनुलोम विवाह के अनेक प्रभाव हिन्दू समाज में देखने को मिलते हैं जैसे उच्च कुलों में लड़कों की कमी, निम्न कुलों में लड़कियों की कमी, वर मूल्य प्रथा, बेमेल और बाल- विवाह, बहु विवाह का प्रचलन तथा सामाजिक बुराईयाँ जैसे विलम्ब विवाह, विधवाओं का बढ़ना आदि।

4. प्रतिलोम विवाह

अनुलोम का विपरीत रूप प्रतिलोम विवाह है। इस प्रकार के विवाह में लड़की उच्च वर्ण, जाति, उपजाति, कुल या वंश की होती है लड़का निम्न वर्ण या जाति का होता है। स्मृतिकारों ने इस प्रकार के विवाह की कटु आलोचना की है। ऐसे विवाह से उत्पन्न सन्तान को 'चण्डाल' कहा जाता था। हिन्दू विवाह वैधता अधिनियम 1949 और 1955 के हिन्दू विवाह अधिनियम में अनुलोम और प्रतिलोम विवाह दोनों को वैध माना गया है।

12.9 मुसलमानों में विवाह

मुस्लिम विवाह जिसे निकाह कहते हैं। इसका शाब्दिक अर्थ नर-नारी का विषयी समागम है। हिन्दुओं में विवाह को धार्मिक संस्कार माना है परन्तु इसके विरीत मुसलमानों में इसे एक नागरिक संविदा माना है। इसके प्रमुख उद्देश्य हैं: यौन संबंध, सन्तानोपत्ति करना, परिवार को चलाना, बच्चों का पालन-पोषण करना, घरेलू जीवन को व्यवस्थित करना डी. एफ. मुल्ला (Principles of Mohammedan law)—-323 लिखते हैं ''विवाह एक विशिष्ट समझौता है जिसका उद्देश्य बच्चे उत्पन्न करना और उनको वैध घोषित करना है।''

आमिर अली The Spirit of Islam P- 257 के अनुसार ''मुस्लिम विवाह एक कानूनी संविदा है जिसके लिए न तो किसी मुल्ला (पुरोहित) की आवश्यकता है न ही किसी धार्मिक कर्मकाण्ड की।'' एस.सी. सरकार भी मानते हैं कि मुस्लिम विवाह धार्मिक कत्तव्य नहीं है यह प्रकार की निष्ठा या ईबादत है।

मुस्लिम विवाह की विशेषताएं-

1. प्रस्ताव और उसकी स्वीकृति
2. विवाह संविदा, करने की क्षमता
3. समानता का सिद्धांत
4. वरीयता प्रथा
5. मेहर

दूल्हे द्वारा मौलवी और दो गवाहों की उपस्थिति में दुल्हिन के सामने विवाह का प्रस्ताव रखा जाता है। विवाह को 'सही' मानने के लिये यह आवश्यक है कि प्रस्ताव और उसकी स्वीकृति एक ही बैठक में हो। ऐसा न होने पर यह विवाह फासिद (अनियमित) हो जाता है किन्तु बातिल (अवैध) नहीं है। फासिद विवाह सही में बदला जा सकता है बातिल नहीं।

निम्नलिनखित अवस्थाओं में विवाह शून्य या बातिल हो जाता है।

1. अगर कोई स्त्री पहले पति के रहते हुए दूसरा विवाह कर लेती है तो दूसरा विवाह रद्द हो जाता है। पहला विवाह बना रहता है।
2. निकट सम्बंधियों में विवाह निषेध है - माता, दादी, नानी, सास, पुत्र, सगी बहन, चाची, भाभी, दोहिती आदि।
3. मूर्तिपूजक से विवाह नहीं किया जाता।
4. तीर्थयात्रा के समय वैवाहिक सम्बंध स्थापित करना वर्जित है।
5. एक मुसलमान पुरूष चार पत्नियों के बाद पांचवीं स्त्री से विवाह नहीं कर सकता।
6. जब स्त्री इद्दत की अवधि में होती है तो उससे विवाह करना निषेध है। चार मासिक धर्मों के बीच की तीन माह की अवधि इद्दत कहलाती है। यह स्त्री के गर्भवती होने का पता लगाने के लिये किया जाता है।
7. पागल अथवा अल्पव्यस्क बिना संरक्षकों की अनुमति के विवाह करते हैं तो वह विवाह बातिल माना जाता है।
8. गर्भवती स्त्री को तलाक दिये जाने पर वह स्त्री बच्चे को जन्म देने के बाद ही पुनः विवाह कर सकती है।

शिया कानून अल्प वयस्क के वली को उसके विवाह का संविदा करने का अधिकार देता है। अल्प वयस्क के सम्बंधी ''फजूली द्वारा संविदा किया हुआ विवाह अल्प वयस्क को यौन अवस्था प्राप्त कर लेने के बाद विवाह को अनुसमर्थन करवा लेने का अधिकार देता है।

समानता के सिद्धांत का तात्पर्य है कि निम्न प्रस्थिति के व्यक्ति के साथ विवाह नहीं करना और न ही भाग कर विवाह करना। ऐसे विवाह को हेय दृष्टि से देखा जाता है।

वरीयता प्रथा का अर्थ है कि पहले तो समानान्तर सहोदरज संतति (चचेरे, मौसेरे) को वरीयता देना फिर विलिंग सहोदरज संतति (केवल ममेरा फुफेरा नहीं) को।

मेहर प्रथा का अर्थ है वह धन जो पत्नी विवाह के उपरान्त से पति लेने की अधिकारी होती है। मेहर निश्चित या उपयुक्त हो सकती है मेहर फौजी (पति की मृत्यु या तलाक के समय देय) या विभेदी हो सकती है।

12.10 ईसाइयों में विवाह

हिन्दू और मुसलमानों की तरह ईसाईयों में भी दो सम्प्रदाय हैं

1. कैथेलिक
2. प्रोस्टेण्ट

हिन्दू और मुसलमानों की तरह ईसाईयों में भी विवाह का उद्देश्य यौन सम्बन्धों के लिये सामाजिक स्वीकृति प्राप्त करना तथा प्रजनन है।

क्रिश्चियन बुलेटिन में ईसाई विवाह को परिभाषित किया गया है विवाह समाज में एक पुरूष तथा एक स्त्री के बीच एक समझौता है, जो साधारणतः सम्पूर्ण जीवन भर के लिये होता है और इसका उद्देश्य यौन सम्बन्ध पारस्परिक सहयोग और परिवार की स्थापना करना है''[Bulletin of christian Institute for the study of society vol 4 No.-2 (Sept. 1975. P.37]

विवाह करने की विधि की दृष्टि से विवाह दो प्रकार के होते हैः-

1. धार्मिक विवाह- ऐसे विवाह का निर्धारण लड़के - लड़की के माता-पिता या परिजनों के द्वारा होता है। ये विवाह, गिरजाघरों में सम्पन्न किये जाते हैं।
2. सिविल मैरिज - ऐसे विवाह के लिये लड़के - लड़की को मैरिज रजिस्ट्रार के कार्यालय में उपस्थित होकर आवश्यक कानूनी कार्यवाही करनी होती है।

ईसाईयों में रक्त संबंधी को छोड़कर शेष सभी से परस्पर विवाह किया जा सकता है। इसमें विधवा विवाह निषेध नहीं है तथा दहेज या मेहर जैसा लेन-देन नहीं होता।

मंगनी की रस्म के बाद, विवाह से पूर्व कुछ औपचारिकताऐं हैं जैसे चरित्र प्रमाण पत्र प्रस्तुत करना, विवाह की तारीख से तीन सप्ताह पहले गिरजाघर में प्रार्थना पत्र प्रस्तुत करना। पादरी विवाह के विरूद्ध ऐतराज आमंत्रित करता है और यदि कोई ऐतराज प्राप्त नहीं होता तो विवाह की तारीख तय हो जाती है। गिरजाघर में प्रभु ईशु के नाम पद दो गवाहों के समक्ष एक दूसरे को विवाहित साथी मानते है।

12.10.1 ईसाई विवाह में आधुनिक परिवर्तन

वर्तमान समय में औद्योगीकरण नगरीकरण, पाश्चात्य शिक्षा, भौतिकवादिता तथा रोमांस आदि के कारण ईसाई विवाह के आदेशों में परिवर्तन देखने को मिल रहा है। जिनमें से मुख्य है- विवाह की आयु में वृद्धि, जीवन साथी का चुनाव स्वयं लड़का या लड़की के द्वारा करना, धर्म का प्रभाव कम हो रहा है। गिरजाघरों की अपेक्षा सिविल मैरिज अधिक हो रही है। धर्मानुसार ईसाईयों में विवाह विच्छेद मान्य नहीं है। किन्तु अब इसमें वृद्धि हो रही है। ईसाईयों में विवाह सम्बन्धी निषेधों में शिथिलता आ रही है। कभी-कभी फुफेरे-ममेरे भाई बहिनों में भी सिविल विवाह होने लगे हैं तथा अधिकतर विवाह रोमान्स और प्रेम पर आधारित होते हैं।

12.11 सारांश

प्रस्तुत इकाई में विवाह की अवधारणा को समझा। विवाह के प्रकार, उद्देश्य तथा महत्व के विषय में ज्ञान प्राप्त किया। इसके पश्चात् विवाह में होने वाले परिवर्तनों हिन्दू विवाह के नियम का अध्ययन किया। मुस्लिम विवाह तथा ईसाई विवाह के बारे में जानकारी प्राप्त की।

12.12 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. विवाह की अवधारणा को समझाइए। विवाह के उद्देश्यों पर चर्चा कीजिए।
2. विवाह के अर्थ को समझाते हुए विवाह के प्रकार का वर्णन कीजिए।
3. विवाह के प्रमुख उद्देश्यों तथा विवाह में होने वाले आधुनिक परिवर्तन की व्याख्या कीजिए।
4. हिन्दू विवाह के प्रमुख स्वरूप तथा विधियों का वर्णन कीजिए।

12.13 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. शर्मा, आर.एन.एवं. शर्मा, आर. के. (2002) सामाजिक विघटन, एटलांटिक पब्लिशर्स एवं डिस्ट्रीब्यूटर्स: नई दिल्ली
2. शर्मा, के. एल. (2011) सामाजिक स्तरीकरण, रावत पब्लिकेशन्सः जयपुर
3. राम, एस. पी. (2010) भारतीय सामाजिक समस्याएं: अर्जुन पब्लिशिंग हाउस: नई दिल्ली
4. सिंह, डी. के., पालीवाल, एस एवं मिश्र, आर. (2010) मानव समाजः संगठन एवम् विघटन के मूल तत्वः न्यू रा ॅयल बुक कम्पनीः लखनऊ
5. सिंह, ए. के. (2009) उच्चतर सामान्य मनोविज्ञान, मोतीलाल बनारसीदास: नई दिल्ली
6. सिंह एस. के. (2010) जाति व्यवस्था: निरंतरता एवं परिवर्तन, रावत पब्लिकेशनः जयपुर
7. मिश्र, पी.डी. (2003) व्यक्ति और समाज, न्यू रा ॅयल बुक कम्पनी: लखनऊ
8. मिश्र, पी.डी. एवं मिश्रा बी. (2004) सोशल वर्क प्रोफेशन इन इण्डिया, न्यू रा ॅयल बुक कम्पनी: लखनऊ
9. महाजन, एस. (2010) सामाजिक समस्याएं, अर्जुन पब्लिसिंग हाउसः नई दिल्ली
10. यादव आर. (2005) सामाजिक समस्याएं, अर्जुन पब्लिशिंग हाउसः नई दिल्ली
11. सिंह, अरुण कुमार, समाजशास्त्र की मूलभूत अवधारणायें, न्यूरायल बुक कम्पनी, लखनऊ 2009
12. अग्रवाल, जी. के. एवं पाण्डेय, एस.एस., ग्रामीण समाजशास्त्र, साहित्य भवन पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स प्रा. लि., 2006

इकाई -13

परिवार

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य

13.1 प्रस्तावना

13.2 परिवार

13.3 परिवार के कार्य

13.5 परिवार का वर्गीकरण

13.4 परिवार में आधुनिक परिवर्तन

13.5 सारांश

13.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

13.7 सन्दर्भ ग्रन्थ

13.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के उपरांत आप-

1. परिवार की अवधारणा ,अर्थ तथा परिभाषा को समझ सकेंगे।
2. परिवार के कार्यों तथा परिवार में होने वाले आधुनिक परिवर्तन से अवगत हो सकेंगे।

13.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में परिवार के विषय पर विचार किया है। परिवार उस समूह का नाम है जिसमें स्त्री-पुरूष का यौन समबंध पर्याप्त निश्चित होता है और इनका साथी इतनी देर तक रहता है जिसमें सन्तान हो जाये और उनका पालन-पोषण भी किया जाये। परिवार ऐसे व्यक्तियों का समूह है जो विवाह रक्त और गोद लेने के सम्बंधी द्वारा संगठित है, एक छोटी गृहस्थी को बनाते है। पति-पत्नी, माता-पिता, पुत्र-पुत्री, भाई-बहन के रूप में एक दूसरे से अंतःक्रिया करते है तथा एक सामान्य संस्कृति का निर्माण करते है। परिवार के द्वारा परिवार के सदस्यों के लिए आवास, आर्थिक सहयोग, शिक्षण तथा सामाजीकरण आदि की व्यवस्थायें करते हैं।

13.2 परिवार

समाज की समस्त सामाजिक सस्थाओं में परिवार एक महत्वपूर्ण और सर्वव्यापी सामाजिक संस्था है। समाज के सभी स्तरों में चाहे वह निम्न स्तर के हो या उच्च स्तर के हो उनमें पारिवारिक संगठन अवश्य होता है। सामाजिक सम्बन्धों के द्वारा व्यक्तित्व का विकास होता है। इन सम्बन्धों का विकास परिवार में होता है। परिवार के अभाव में

सभ्य मानव समाज की कल्पना करना कठिन है। परिवार मानव समाज की प्राथमिक ईकाई है। जिसमें व्यक्ति की समस्त आवश्यकतायें पूरी होती हैं। इसी वजह से परिवार सार्वभौमिक है और यह आदिकाल से विद्यमान रहा है।

13.2.1 परिवार का अर्थ एवं परिभाषा

परिवार शब्द अंग्रेजी भाषा के फैमिली शब्द का हिन्दी रूपान्तर है। थ्ंउपसल शब्द की उत्पत्ति लैटिन शब्द थ्ंउनसने शब्द से हुई है। जिसका अर्थ माता-पिता बच्चे और दास के समूह के लिए प्रयुक्त होता था। परिवार के अन्तर्गत पति-पत्नी तथा बच्चे सदस्य के रूप में होते है। इसके अतिरिक्त रक्त सम्बन्धियों को भी शामिल किया जाता है।

विद्वानों ने परिवार के विषय को कई प्रकार से परिभाषित किया है। जोकि निम्नलिखित है:

मैकाइवर के अनुसार, ''परिवार उस समूह का नाम है। जिसमें स्त्री-पुरूष को यौन सम्बन्ध पर्याप्त निश्चित होता है और इनका साथी इतनी देर तक रहता है। जिससे सन्तान उत्पन्न हो जाये और उनका पालन पोषण भी किया जायं।

आगबर्न, डब्ल्यू. एफ, एण्ड निम्काफ एम. एफ. के अनुसार, ''परिवार लगभग एक स्थाई समिति है। जो पति-पत्नी से निर्मित होती हैं चाहे उनके सन्तान हो या न हो या पुरुष या स्त्री या बच्चें हो।''

बर्गेस. ई. डब्ल्यू. तथा हार्नीलाक के अनुसार, ''परिवार ऐसे व्यक्तियों का समूह है। जो विवाह, रक्त और गोद लेने के सम्बन्धों द्वारा संगठित है, एक छोटी गृहस्थी को बनाते है। पति-पत्नी, माता-पिता, पुत्र-पुत्री, भाई-बहन के रूप में एक दूसरे से अन्तःक्रिया करते है तथा एक सामान्य संस्कृति का निर्माण करते है।

किग्सले डेविस के अनुसार, ''परिवार ऐसे व्यक्तियों का समूह हैं। जिनके पारस्पारिक सम्बन्ध सगोत्रता पर आधारित होते है और जो इस प्रकार एक दूसरे के रक्त सम्बन्धी होते हैं।

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि परिवार एक स्थायी सामाजिक समूह है। जिसमें स्त्री-पुरुष यौन सम्बन्धों के द्वारा बच्चों को उत्पन्न करते है। तथा उनका पालन-पोषण करते है। परिवार क द्वारा परिवार के सदस्यों के लिए आवास, आर्थिक, सहयोग, शिक्षण, सामाजिककरण आदि की व्यवस्थायें करते है।

13.3 परिवार के कार्य

मानव समाज में परिवार की महत्ता ने परिवार के कार्यों को कई भागों में विभाजित किया है। जो कि निम्नलिखित हं:

1. जैविकीय कार्य

यौन इच्छाओं की पूर्ति :-यौन सन्तुष्टि मानव जीवन की आवश्यकता है। परिवार में व्यक्ति विवाहित जीवन को सफल बनाने तथा समाज द्वारा स्वीकृत तरीके से यौन इच्छाओं को पूरा करता है।

सन्तानोत्पत्ति एवं बच्चों का पालन पोषण:-यौन इच्छाओं की पूर्ति के साथ-साथ सन्तान उत्पत्ति की क्रिया भी शुरू हो जाती है। समाज को गतिमान बनाये रखने के लिए सन्तानोत्पत्ति आवश्यक है। परिवार के अतिरिक्त भी सन्तानोत्पत्ति हो सकती है परन्तु समाज न तो ऐसी सन्तानों को एवं न ही ऐसे सम्बन्धों को स्वीकार करता है। सन्तानों का पालन-पोषण करना, उनकी शिक्षा की व्यवस्था करना, उनको संस्कारित बनाना आदि कार्य परिवार के द्वारा किये जाते हैं।

भोजन एवं आवास का प्रबन्ध करना:-जीवन के अस्तित्व को बनाये रखने के लिए भोजन आवश्यक है। जिसके बिना व्यक्ति जीवित नहीं रह सकता है। भोजन के साथ-साथ परिवार सदस्यों के निवास के लिए निवास की व्यवस्था करता है। व्यक्ति अपने निवास घर में ही शान्ति एवं सुख का अनुभव करता है।

2. आर्थिक कार्य

प्रारम्भ से ही पुरुष कार्य करके घर की आय को बढ़ा रहा है। जिसके द्वारा परिवार का पालन-पोषरण होता है। आधुनिक परिवरों में अब स्त्री और पुरुष दोनों ही रोजगार में कार्यरत रहते है। जिससे घर की आय में वृद्धि होती है और घर में समृद्धि आती है। इसके साथ-साथ घर की आय और खर्चों का प्रबन्ध भी परिवार द्वारा किया जाता है।

3. **सामाजिक** कार्य

परिवार के द्वारा ही बालक का सामाजिक विकास होता है। परिवार में संस्कृति, प्रथायें, आदतों, रीति-रिवाज आदि का ज्ञान प्राप्त होता है। परिवार के द्वारा व्यवहारों, ज्ञान, संस्कृति का हस्तान्तरण पीढ़ी दर पीढ़ी होता है। इसके साथ-साथ परिवार के सदस्यों को सामाजिक सुरक्षा भी परिवार के द्वारा मिलती है।

4. मनोवैज्ञानिक कार्य

परिवार के द्वारा परिवार के सदस्यों को मानसिक सुरक्षा, सन्तोष, प्रेम, सहयोग, परस्पर प्यार-स्नेह मिलता है। जिससे बच्चों में आत्मविश्वास पैदा होता है तथा व्यक्तित्व का पूर्ण रूप से विकास होता है। जिन परिवारों में बच्चों को प्यार-स्नेह नहीं मिलता वे अपराधी और विघटित व्यक्तित्व वाले बन जाते है।

5. राजनीतिक कार्य

परिवार के अन्दर परिवार के विवादों को सुलझाने के लिए, परिवार के सदस्यों को उनके अधिकार एवं कर्तव्यों का ज्ञान कराने तथा उनकी स्थिति से उनको अवगत कराने और परिवार को संचालित करने के लिए प्रबन्धन करना आदि कार्य परिवार के वरिष्ठ सदस्यों द्वारा दिये किये जाते हैं।

6. मनोरंजनात्मक कार्य

परिवार के द्वारा मनाये जाने वाले पर्व, त्यौहार, उत्सव, धार्मिक कर्मकाण्ड आदि के द्वारा परिवार के सदस्यों का मनोरंजन होता है। कहानियां सुनाना, इन्डोर गेम, पिकनिक आदि के द्वारा बच्चों का मनोरंजन होता ही है। साथ ही साथ शारीरिक एवं मानसिक विकास भी होता है।

7. शिक्षणात्मक कार्य

परिवार बच्चों की प्रथम पाठशाला होती है। जहाँ पर बच्चों को नैतिक शिक्षा, एवं सामाजिक शिक्षा मिलती है। जिससे उसके व्यक्तित्व का निर्माण होता है।

13.4 परिवार में आधुनिक परिवर्तन

वर्तमान समाज में तीव्रगति से परिवर्तन हो रहे हैं। इन परिवर्तनों का प्रभाव परिवार पर भी पड़ रहा है। जिसके फलस्वरूप परिवार के कार्यों तथा संरचना दोनों में परिवर्तन हो रहा है। आज भी परिवार विकास तथा

उन्नति की मौलिक इकाई है। जो कार्य पहले परिवार के द्वारा होते थे। वे आज संस्थाओं के द्वारा होने लगे हैं। परिवार में निम्नलिखित परिवर्तन हो रहें है।

1. परिवार के आकार का छोटा होना

औद्योगिकीकरण के फलस्वरूप केन्द्रीय परिवार या एकल परिवारों की संख्या बढ़ने लगी है। इसके साथ-साथ सन्तति निग्रह या परिवार नियोजन ने एकल परिवारों की संख्या बढ़ायी है। अब संयुक्त परिवार की जगह एकल परिवार ले रहें है।

2. वैवाहिक सम्बन्धों में परिवर्तन

शिक्षा एवं महिला सशक्तीकरण ने स्त्रियों को जागरूक किया है। जिसकी वजह से स्त्री-पुरुष के समान हो गयी है। अब स्त्रियां भी शिक्षा प्राप्त करके अपने लिए अलग रोजगार की व्यवस्था करती हैं। शादी की उम्र बढ़ने से लड़कियां भी पति का चयन करने में अपनी इच्छाओं को प्रकट करती हैं। प्रेम विवाह, कोर्ट मैरिज तथा अन्तर्जातीय विवाह ने परिवार के ढांचे को ही बदल दिया है।

3. परिवार में मुखिया की सत्ता में कमी

आज के परिवार में पहले की तरह परिवार के मुखिया की भूमिका उतनी निरंकुश नहीं है। बल्कि आधुनिक परिवारों में नियम, अनुशासन अनुकूलता पर आधारित होता है। किसी भी निर्णय में परिवार के सभी सदस्यों की सहमति होती है। परिवार मे युवा सदस्य अपनी इच्छा से अपनी जिन्दगी के निर्णय स्वयं करते हैं। माता-पिता भी इन परिवर्तनों को स्वीकार करने लगे है।

4. स्त्रियों के अधिपत्य में वृद्धि

स्त्रियों की सामाजिक चेतना जागरण के फलस्वरूप महिलाओं ने अपने अधिकारों का प्रयोग करना सीखा है। महिलाओं को सम्पत्ति में अधिकार मिला हैै तथा महिलाओं से सम्बन्धित कानूनों को सशक्त किया है। महिलायें अपने पैरों पर खड़े होकर परिवार का पालन-पोषण करने में पुरुष के साथ बराबर का हाथ बटाँती हैं। विगत वर्षों में महिलाओं की स्थिति दिनोदिन बेहतर हो रही है।

5. सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन

परिवार के मूल्यों में भी अधुनिकीकरण का प्रभाव पड़ा है। अब विवाह एक समझौता हो गया है। तलाक को व्यापक रूप से मान्यता मिली है। महिला सशक्तीकरण ने परिवार में महिलाओं के लिए भूमिका-सम्वर्धन जैसी स्थिति बना दी है। इसके अलावा विवाहोपरान्त यौन सम्बन्धों ने विवाह संस्था को कमजोर किया है। परिवार नियोजन के द्वारा सन्तति निरोध को आवश्यकता बना दिया है।

6. राज्य का हस्तक्षेप

पहले परिवार के ऊपर राज्य का नियन्त्रण नहीं था परन्तु विवाह, सन्तानोत्पत्ति, घरेलू हिंसा, बच्चों की देखभाल से सम्बन्धित कानून बनाकर परिवार व्यवस्था में हस्तक्षेप किया है।

7. व्यक्तिवादी भावना का विकास

अधुनिकीकरण ने व्यक्तिवादी भावना को बढ़ाया है। जिसके फलस्वरूप विवाह करने में असहमता महसूस करते है। पढ़े-लिखे स्त्री-पुरुष अपने निजी स्वार्थों के लिए अनावश्यक मानते हैं। इसके साथ-साथ परिवारों

में रिश्ते-नातों का पालन हो रहा। व्यक्ति की स्वयं की महत्वाकांक्षाओं ने परिवार के अन्य सदस्यों के प्रति प्रेम को कम कर दिया है तथा सम्बन्धों में ऊर्जा का अभाव दिखता है

13.5 परिवार का वर्गीकरण

परिवार के भिन्न-भिन्न रूपों को दो कोटियों में बांटा जा सकता है। पहला वह परिवार है जिसमें स्त्री, पुरूष और बच्चे सम्मिलित हैं। यह परिवार का चिरथायी रूप है। दूसरी कोटि के अन्तर्गत उन सभी प्रकारों का समावेश हो सकता है जो विस्तृत परिवारों की संज्ञा पाये हुए हैं। इसमें बहुपति, बहुपत्नी और संयुक्त परिवार को स्थान दिया जाता है।

1. एकाकी परिवार

परिवार के सदस्य परस्पर बन्धुत्व अथवा नातेदारी सम्बन्धों से सम्बन्धित होते है। समाजशास्त्र की सबसे छोटी इकाई समूह है और उसमें कम से कम दो व्यक्तियों का होना आवश्यक है। इस प्रकार परिवार मनुष्यों का समूह है उसमें कम से कम दो ऐसे व्यक्तियों का होना आवश्यक है जो उपर्युक्त वर्णित बन्धुत्व सम्बन्धों, विवाह, रक्त और गोद से संबंधित हो इस प्रकार जहां केवल पति-पत्नी मिलकर परिवार बना देते हैं वह एकाकी परिवार कहलाएगा। इसके निम्न कई संरचनात्मक प्रकार हो सकते हैं- 1. पति-पत्नी, 2. पिता-पुत्र, 3. पिता-पुत्र, 4. माता-पुत्र, 5. माता-पुत्री, 6. भाई-भाई, 7. बहिन-बहन, 8. भाई-बहिन आदि-आदि परिवार के निर्माण में वैवाहिक और/अथवा रक्त (गोद) सम्बन्धों का होना आवश्यक है।

परिवार का दूसरा पक्ष प्रकार्यात्मक है। सामाजिक मानवशास्त्रीय दृष्टिकोण से परिवार का प्रकार्यात्मक पक्ष विशेष महत्वपूर्ण है। कई विद्वानो ने परिवार के सदस्यों का साथ-साथ रहना आवश्यक बताया है जबकि समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण के अनुसार अगर कुछ व्यक्ति बन्धुत्व सम्बन्ध से सम्बन्धित है और अलग-अलग रहते परन्तु वे कर्तव्य और अधिकार भावना एवं सत्ता के प्रतिमान से सम्बद्ध है तो वह एक संयुक्त परिवार कहलाएगा। रास ने अपनी परिभाषा में इन प्रकार्यात्मक विशेषताओं पर विशेष जोर दिया है डी0एन0 मजूमदार, मुरडाक, लूसी मेयर आदि ने साथ-साथ रहने पर बल दिया है। वास्तविकता तो है कि वे साथ-साथ भी रह सकते है और अलग-अलग भी, मुख्य बात यह है कि उनमें परस्पर सामाजिक सम्बन्ध होना आवश्यक है।

उपर्युक्त विवेचना के आधार पर यह कहा जा सकता है कि परिवार व्यक्तियों के समूह है जो विशिष्ट बन्धुत्व सम्बन्धों विवाह, रक्त और गोद से सम्बन्धित होते हैं जो समाज द्वारा मान्यता प्राप्त होते हैं वे साथ-साथ अथवा अलग-अलग भी रह सकते हैं सदस्यों में परस्पर यौन सम्बन्धों की व्यवस्था, प्रजनन, समाजीकरण, सामाजिक नियंत्रण, कर्तव्य और अधिकार, भावना एवं सत्ता के प्रतिमान आदि से सम्बन्धित सम्बद्धता होती है।

2. संयुक्त परिवार

सदस्यों की संख्या की दृष्टि से परिवार के विभाजन में परिवार का एक प्रमुख प्रकार संयुक्त परिवार है। अनुमान है कि मानवीय सभ्यता तथा संस्कृति के विकास के क्रम में परिवार की उत्पत्ति संयुक्त परिवार के रूप में हुई है। परिवार के प्रारंभिक स्वरूप के बारे में बहुत अधिक मत वैभिन्य है। पितृसत्तात्मक, मातृसत्तात्मक, एक विवाही, यौन साम्यवाद जैसे अनेकों सिद्धान्त हैं जो कि परिवार की प्रारंभिक अवस्था पर प्रकाश डालते हैं। इन सभी में यदि मानवीय जीवन में स्थायित्व और कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था को जोड़कर देखा जाए तो परिवार में शक्ति और सत्ता का स्वरूप भले ही कैसा भी रहा हो लेकिन इसकी प्रकृति संयुक्त परिवार कर रही होगी। कृषि एक ऐसा व्यवसाय है जो अनेकों पीढ़ियों के लोगों का भरण-पोषण करने तथा कार्य देने में सक्षम है। प्रारंभिक समय में

अन्य व्यवसायों के न होने की स्थिति में निश्चित ही कृषि मूल व्यवसाय में जुड़े हुए लोग संयुक्त परिवार में रहते होंगे।

संयुक्त परिवार की परिभाषाएँ

अनेक समाजशास्त्रियों ने संयुक्त परिवार की परिभाषाएँ दी हैं। कुछ प्रमुख परिभाषाओं का उल्लेख हम यहाँ कर रहे हैं।

आई.पी.देसाई - ''हम उस गृहस्थी को संयुक्त परिवार कहते हैं, जिसमें एकांकी परिवार की अपेक्षा अधिक (तीन या इससे अधिक) पीढ़ियों के सदस्य सम्मिलित रहते हैं तथा जो परस्पर सम्पत्ति, आय और पारस्परिक हित व कर्तव्यों से जुड़े रहते हैं।''

डा.पी.एन.प्रभु - ''सामान्यतः हिन्दू परिवार के अन्तर्गत चार पीढ़ियों के व्यक्ति सम्मिलित रहते है। सदस्यों की संख्या कितनी भी हो सकती है। ये सभी सदस्य एक ही घर में निवास करते है और परिवार की सामान्य सम्पत्ति में सहभागी होते है।''

डी.एफ.मुल्ला - मुल्ला ने संयुक्त परिवार की व्याख्या हिन्दू विधि के आधार पर की है। उनके अनुसार ''हिन्दू विधि के अन्तर्गत संयुक्त-परिवार में ऐसे समस्त व्यक्ति सम्मिलित हैं जो एक वंशज हैं, इसमें उनकी पत्नियाँ और अविवाहित लड़कियाँ भी सम्मिलित हैं। विवाहित लड़कियाँ पिता के संयुक्त-परिवार के सदस्य भोजन व पूजा की दृष्टि से भी संयुक्त रहते हैं। पारिवारिक सम्पत्ति की दृष्टि से कभी-कभी भोजन, पूजा एवं सम्पत्ति का संयुक्त होना आवश्यक नहीं होता है। परिवार की संयुक्तता जन्म पर आधारित होती है।'' संयुक्त सम्पत्ति परिवार को संयुक्तता प्रदान करती है।''

श्रीमती इरावती कर्वे - ''एक संयुक्त-परिवार सामान्यतः एक ही छत के नीचे रहने वाले ऐसे लोगों का समूह है जो कि एक ही चूल्हे पर (सामान्य रसोई में) बना खाना खाते हैं, जिनकी सम्मिलित सम्पत्ति होती है जो सम्मिलित रूप से पूजा-अर्चना करते हैं जो एक-दूसरे के साथ रक्त सम्बन्धों से सम्बन्धित रहते हैं।''

डा. एस.सी.दुबे - डा. दुबे ने संयुक्त-परिवार को परिभाषित करते हुए कहा है कि - ''यदि कई मूल परिवार एक साथ रहते हैं, उनमें निकट का नाता है, एक ही स्थान पर भोजन करते हैं, एक आर्थिक इकाई के रूप में कार्य करते हैं तो उन्हें उनके सम्मिलित रूप में संयुक्त परिवार कहा जा सकता है।''

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ''संयुक्त-परिवार वह परिवार है जिसमें न केवल माता-पिता, उनके अविवाहित बच्चे और विवाहित बच्चे विवाहोपरान्त रहते हैं तथा सभी क्षेत्रों में एक इकाई के सदस्य के रूप में सहभागी होते हैं।''

संयुक्त परिवार की विशेषताएँ

संयुक्त परिवार की विशेषताओं को हम निम्नानुसार प्रस्तुत कर सकते हैं-

1. बड़ा आकार - रक्त से परस्पर सम्बन्धित एकाकी परिवारों का संकलन होने के कारण संयुक्त-परिवार का आकार एकाकी परिवारों की तुलना में पर्याप्त रूप में बड़ा होता है।

2. सामान्य निवास - यदि रक्त से सम्बन्धित दो या दो से अधिक एकाकी परिवार एक साथ न रह कर अलग-अलग मकानों में रहते हों तब मकानों के ऐसे संकलन अथवा पृथक-पृथक रहने वाली ऐसी गृहस्थियों के संकलन को संयुक्त परिवार नहीं कहा जाएगा। वर्तमान में इसमें भी परिवर्तन हुआ है। आज यद्यपि संयुक्त-परिवार के सदस्य

एक ही मकान में रहते हैं परन्तु इस परिवार में सम्मिलित एकाकी परिवारों निजी उपयोग के लिए प्रायः अलग-अलग कमरे दे दिये जाते हैं।

3. दो या दो से अधिक एकाकी परिवारों का संगठन - एक संयुक्त परिवार तभी अस्तित्व में आता है जबकि वह दो या दो से अधिक एकाकी परिवारों का संकलन हो। इसके साथ यह भी अनिवार्य है कि इन एकाकी परिवारों के पुरूष सदस्य रक्त सम्बन्धी हों, अर्थात् माता-पिता और उनसे उत्पन्न होने वाले पुत्र विवाहोपरान्त पीढ़ी दर पीढ़ी साथ रहकर संयुक्त-परिवार का निर्माण करते हैं।

4. समरूपता - संयुक्त परिवार के सभी सदस्यों का रहन-सहन, कार्य-पद्धतियाँ, रीति-रिवाज, प्रथाएँ आदि एक समान रहते हैं। इस प्रकार संयुक्त परिवार के सदस्यों का समान जीवन-स्तर और संस्कृति होती है।

5. सम्मिलित सम्पत्ति - संयुक्त परिवार के सदस्य अलग-अलग आय अर्जित करने के बावजूद अपनी आय स्वयं के पास न रखकर मुखिया के पास रखते हैं। मुखिया इस आय का उपयोग आय अर्जित करने वाले सदस्यों के लिए पृथक-पृथक न करके समान रूप से करता है। इस स्थिति में अब परिवर्तन हुआ है। संयुक्त परिवार के सदस्य अपनी सम्पूर्ण आय मुखिया के पास न देकर आय का निश्चित हिस्सा उसे देते हैं और शेष स्वयं रखते हैं। इस आवास सम्बन्धी आवश्यकता तो पूर्ण करता है परन्तु वस्त्र, शिक्षा, आवागमन, अतिथि-सत्कार आदि का खर्च संयुक्त परिवार में सम्मिलित एकाकी परिवार पृथक-पृथक रूप में करते हैं। अतीत में सम्पूर्ण आय सम्मिलित रहने के कारण परिवार की सम्पत्ति में उत्तराधिकार भी सभी सदस्यों को समान रूप से प्राप्त रहता था। परिवार की सम्पत्ति में नवजात शिशु का उतना ही अधिकार होता था जितना कि एक वृद्ध का होता है।

6. सम्मिलित रसोई - संयुक्त परिवार में सम्मिलित सभी एकाकी परिवारों के लिए भोजन भी एक ही रसोईघर में एक साथ (सम्मिलित रूप से)बनना चाहिए। अब परिवर्तित परिप्रेक्ष्य में भोजन तो सम्मिलित रूप से बनना है परन्तु उसे एक ही स्थान पर बैठकर खाना अनिवार्य नहीं रह गया है। संयुक्त परिवार में सम्मिलित एकाकी परिवारों का कोई सदस्य यदि चाहे तो अपने कमरे में खा सकता है, यदि ऐसा करने में संयुक्त परिवार के सदस्यों को कोई आपत्ति न हो तो।

7. सामाजिक सुरक्षा - संयुक्त परिवार अपने सभी सदस्यों की आयु, पद, सामाजिक स्थिति, आय, शारीरिक स्वास्थ्य आदि को दृष्टिगत न रखकर समान रूप में सुरक्षा प्रदान करता है। परिवार के किसी सदस्य के बेरोजगार, अस्वस्थ, अपंग, विधवा, विधुर अथवा वृद्ध होने पर देखभाल का दायित्व अन्य सदस्यों पर रहता है। इस प्रकार संयुक्त परिवार में सभी सदस्यों को सुरक्षा प्राप्त रहती है।

8. सहयोग की भावना - सहयोग संयुक्त परिवार का आधार है। सहयोग न होने पर संयुक्त परिवार का विघटन अवश्यम्भावी हो जाता है।

9. सामान्य धार्मिक आस्थाएँ और अराधना - एक संयुक्त परिवार के सभी सदस्य एक ही धर्म के अनुयायी तथा समान देवी-देवता में आस्था रखते हैं। पर्व, संस्कार और धार्मिक आयोजन भी सम्मिलित रूप से होते हैं। अब यद्यपि संयुक्त परिवार के सदस्य समान धर्मानुयायी होते हैं तथापि सबकी एक ही देवी-देवता, अथवा धर्म गुरूओं में आस्था होना अनिवार्य नहीं है। इसी प्रकार परिवार में सम्पन्न धार्मिक आयोजनों में भी सभी सदस्यों को समान निष्ठा रखना अनिवार्य नहीं रह गया है।

संयुक्त परिवार के लाभ अथवा प्रकार्य

आदिकाल से भारत में संयुक्त परिवार में अनेक महत्वपूर्ण कार्य-सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक आदि करते आ रहे हैं। यह समाज में एकता, संगठन आदि बनाए रखने का महत्वपूर्ण कार्य करते हैं संयुक्त परिवार के निम्नलिखित कुछ महत्वपूर्ण कार्य हैं-

1. संस्कृति की रक्षा - संयुक्त परिवार सदियों से संस्कृति को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित करता आ रहा है। वृद्ध लोग नई पीढ़ी को कथाओं, कहानियों, उत्सव, त्यौहार, गीत आदि के द्वारा संस्कृति की शिक्षा देते हैं समाजीकरण के द्वारा प्रथाओं, रूढ़ियों तथा परम्पराओं को हस्तान्तरित करने का कार्य परिवार करता आ रहा है। संयुक्त परिवार संस्कृति की सुरक्षा तथा सिखाने का काम करता है।

2. समाजीकरण का कार्य - समाज के लिए नए सदस्यों का जन्म, पालन-पोषण तथा समाजीकरण का कार्य अत्यावश्यक है। भारतीय समाज में संयुक्त परिवार यह कार्य सदियों से करता चला आ रहा है। संयुक्त परिवार में बच्चा सामाजिक मूल्यों, व्यवहार करने के तरीके आदि सीखता है। संयुक्त परिवार बच्चे को समाज के उपयोगी सदस्य के रूप में समाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा तैयार करता है।

3. सामाजिक तथा आर्थिक सुरक्षा - संयुक्त परिवार अपने सदस्यों को सामाजिक तथा आर्थिक सुरक्षा प्रदान करता है। परिवार की सामान्य सम्पत्ति तथा सामूहिक आय एक स्थान पर मुखिया के पास एकत्र होती है। मुखिया संयुक्त परिवार के प्रत्येक सदस्य की आवश्यकता को आय के अनुसार पूरी करने की व्यवस्था करता है। विधवा, वृद्धजन, अनाथो, परित्यक्ताओं, अपाहिज बेरोजगार आदि को संयुक्त परिवार में उचित भोजन, वस्त्र तथा आवास की सुविधा प्रदान की जाती है। सदस्य परस्पर एक दूसरे की संकटकाल में सहायता करते है समाज की परम्परा भी ऐसी है कि वह परिवार के सदस्यों को सहायता और सुरक्षा प्रदान करने के लिए बाध्य भी करती है।

4. सम्पत्ति के विभाजन से बचाव - संयुक्त परिवार में सम्पत्ति सभी की समान होती है। विशेष रूप से खेतों का भी खण्डो तथा उपखण्डों में विभाजन तथा बंटवारा नहीं होता है, खेतो का आकार बड़ा बना रहता है उससे उनमें खेती अच्छी होती है। सम्पत्ति सामूहिक होने से समाज में परिवार की आर्थिक स्थिति तथा सामाजिक प्रस्थिति अच्छी बनी रहती है।

संयुक्त परिवार के दोष अथवा सीमाएँ

संयुक्त परिवार में वर्तमान में दिखाई देने वाले कुछ दोष या सीमाएं निम्न हैं-

1. नियन्त्रण की समस्या - संयुक्त परिवार का आकार बड़ा होने के कारण सभी सदस्यों पर पूर्ण नियन्त्रण रखना कठिन होता है।

2. उत्तराधिकारी सम्बन्धी समस्याएँ - संयुक्त परिवार में प्रायः सम्पत्ति पर अधिकार और हिस्से को लेकर सदस्यों के बीच तनाव व कलह पाई जाती है। इससे संयुक्त परिवार का न केवल विघटन होता है बल्कि अनेक बार सदस्यों के मध्य संघर्ष भी होता है।

3. सदस्यों की भावनाओं और अपेक्षाओं की उपेक्षा - संयुक्त परिवार का मुखिया परिवार के सभी सदस्यों के साथ समानता का व्यवहार करता है। परिवार की सभी स्त्रियों, सभी पुरूषों और सभी बच्चों का मानसिक स्तर, मनोवृत्तियाँ, भावनाएँ, इच्छाएं और आवश्यकताएं एक समान नहीं हो सकती हैं ; संयुक्त परिवार में इस तथ्य को ध्यान में न रखकर सबके साथ समान व्यवहार किया जाता है। इस कारण सदस्यों में असन्तोष रहता है। यह असन्तोष मानसिक तनाव उत्पन्न कर उनके पारस्परिक व्यवहारों को प्रभावित करता है।

4. पति, पत्नी और बच्चों में सहज सम्बन्धों का अभाव - संयुक्त परिवार की मर्यादा के अनुसार बड़ों के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने की भावना, परिवार के सभी सदस्यों की देखभाल सम्बन्धी बड़ों के अधिकार, संयुक्त परिवार में स्थान की कमी के कारण पति-पत्नी को एकान्त न मिल पाना आदि के कारण पति-पत्नी और बच्चों के बीच सहज सम्बन्धों में बाधा उत्पन्न होती है। वर्तमान में विशेषकर आधुनिक शिक्षा, व्यक्तिवादिता की भावना ; चलचित्र व दूरदर्शन के प्रभाव के कारण इस प्रकार की भावना का संयुक्त परिवार के सदस्यों में अधिक विकास को हो रहा है। इस कारण प्रायः तनाव, संघर्ष और पारिवारिक विघटन की स्थिति उत्पन्न होती है।

5. स्त्रियों में कार्य का असमान वितरण - संयुक्त परिवार में प्रायः वरिष्ठ बंधुओं को कम तथा कनिष्ठ बहुओं को अधिक कार्य करना पड़ता है। मुखिया की स्त्री परिवार की लड़कियाँ प्रायः कम ही कार्य करती है। यह स्थिति परिवार में संघर्ष उत्पन्न करती है।

6. मूलभूत स्वतन्त्रताओं का अभाव - व्यक्ति प्रायः आवागमन, व्यवसाय, सामाजिक सम्पर्क, सुख-सुविधा, निजी सम्पत्ति का संग्रह, अपने बच्चों और पत्नी की देखभाल आदि सम्बन्धी स्वतन्त्रताएं चाहता है इस स्वतन्त्रता का संयुक्त परिवार में अभाव रहता है जिससे कुण्ठाएं, तनाव और संघर्ष पाया जाता है।

7. स्त्रियों में असन्तोष - प्रत्येक स्त्री चाहती है कि उसकी अपनी स्वतन्त्र गृहस्थी हो, जिसकी वह स्वामिनी हो, जिसे वह अपनी इच्छा से चला सके, जहाँ वह अपने बच्चों और पति की स्वतन्त्रतापूर्वक देखभाल कर सके। स्त्रियों की इस नैसर्गिक अकांक्षा की पूर्ति संयुक्त परिवार में नहीं हो पाती जिससे वे तनावग्रस्त होती हैं।

8. रूढ़िवादिता - संयुक्त परिवार में परम्पराओं, प्रथाओं, मर्यादाओं, पारम्परिक व्यवसाय, जातीय नियमों, कर्मकाण्डों के प्रति आस्था आदि अधिक पाई जाती हैं। संयुक्त परिवार के युवा पीढ़ी के सदस्य इसे पसन्द नहीं करते हैं। फलतः कलह होती है।

9. गतिशीलता में बाधक - व्यक्ति संयुक्त परिवार के लिए जीवन जीता है, परिवार छोड़कर बाहर जाने की बात वह सोच भी नहीं सकता है। संयुक्त परिवार में व्यक्ति का अलग से कोई अस्तित्व नहीं होता है। वह परिवार के द्वारा तथा परिवार के लिए होता है। इस प्रकार संयुक्त परिवार के आदर्श, मूल्य, मान्यताएं आदि व्यक्ति की गतिशीलता में बाधक कार्य करते है।

13.5 सारांश

प्रस्तुत इकाई में परिवार की अवधारणा तथा अर्थ को समझा। परिवार के कार्यों के विषय में ज्ञान प्राप्त किया। परिवार में होने वाले आधुनिक परिवर्तन का अध्ययन किया।

13.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. परिवार के अर्थ एवं परिभाषा को समझाइए। परिवार के महत्व की व्याख्या कीजिए।
2. परिवार के आकार का वर्णन कीजिए। परिवार के कार्यों पर प्रकाश डालिए।
3. परिवार के वर्गीकरण का वर्णन कीजिए।
4. परिवार में होने वाले आधुनिक परिवर्तनों की विवेचना कीजिए।

13.7 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. लवानिया, एम.एम. एवं राठौड़, ए.एस. (1999) भारतीय समाज, रिसर्च पब्लिकेशनः जयपुर

2. लवानिया, एम.एम. एवं पडियार, जी. (2010) भारत में सामाजिक समस्यायें, रिसर्च पब्लिकेशनः जयपुर

3. गुप्ता, एम.एल. एवं शर्मा, डी.डी. (2004) समकालीन भारतीय सामाजिक विचारक एवं सामाजिक आन्दोलन, साहित्य भवन पब्लिकेशनः आगरा

4. अहूजा, आर (1999) सामाजिक समस्याएं, रावत पब्लिकेशन्सः जयपुर

5. अहूजा, आर. एवं. अहूजा एम. (2008) समाजशास्त्र: विवेचना एवं परिप्रेक्ष्य, रावत पब्लिकेशन्सः जयपुर

6. चन्द्र, एस.एस. (2002) भारतीय सामाजिक संरचना, कनिष्का पब्लिशर्स: नई दिल्ली

7. चन्द्र, एस.एस. (2002) भारत में सामाजिक समस्याएं: कनिष्का पब्लिशर्स: नई दिल्ली

8. दोषी, एस. एल. एवं जैन, पी.सी. (2005) भारतीय समाज, नेशनल पब्लिसिंग हाउसः जयपुर

इकाई -14

धर्म एवं संस्कृति

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य

14.1 प्रस्तावना

14.2 धर्म

14.2.1 हिन्दू धर्म के मूल सिद्धान्त

14.2.2 धर्म के रूप

14.3 संस्कृति

14.3.1 संस्कृति की परिभाशा

14.3.2 संस्कृति की विशेशताएं

14.4 सारांश

14.5 अभ्यासार्थ प्रश्न

14.6 सन्दर्भ ग्रन्थ

14.0 उदेश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप-

1. धर्म एवं संस्कृति की अवधारणा को समझ सकेंगे।
2. धर्म के अर्थ तथा हिन्दू धर्म के मूल सिद्धान्त का वर्णन कर सकेंगे।

14.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में धर्म एवं संस्कृति के विषय पर विचार किया गया है। भारत एक धर्म प्रधान दंश होने के फलस्वरूप पुरानी पीढ़ी के लोगों में धार्मिक संस्कारों, प्रतीकों, लोक-साहित्य तथा मूल्यों में आज भी अधिक आस्था पाई जाती है, लेकिन नई पीढ़ी के आधुनिकीकरण का प्रभाव बढ़ रहा है। अतः उनमें धार्मिकता का अंश बहुत कम देखने में आता है। संस्कृति उन विधियों का समुच्चय है, जिनमें मनुष्य एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक सीखने के कारण रहता है। संस्कृति में जो तत्व सम्मिलित हैं उनके अनुसार इसके अंदर जोड़ो और समूहों के रूप में लोगों के सम्बन्ध; मनुष्य के कार्य जिनमें भौतिक पदार्थों का .भी सम्मिलन है और लाक्षणिक संकेतों के क्षेत्र में अपनी शक्ति का व्यय जिसमें भाषा, संगीत, कला में और मानव शरीर भी सम्मिलित है।

14.2 धर्म

पिछले 30-35 वर्षों से भारतीय नागरिकों को सभी स्तरों की शिक्षा प्राप्त करने का खुला अवसर मिलता रहा है। इसके फलस्वरूप मुसलमानों, सिक्खों, ईसाइयों, जैनियों तथा अन्य धर्मों के लोगों में पहले की अपेक्षा अब अधिक स्त्री-पुरुष शिक्षित दिखलाई देते हैं। भारत में हिन्दू जनसंख्या अधिक है, अतः शिक्षित व्यक्तियों में हिन्दुओं का प्रतिशत सबसे अधिक पाया जाना तो स्वाभाविक ही है, लेकिन इस सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि भारत में ईसाई, सिक्खों, पारसियों व यहूदियों जैसे अल्संख्यक समुदायों की तुलना में अभी तक मुसलमानो में शिक्षित व्यक्तियों का प्रतिशत बहुत नीचा ही बना हुआ है।

परम्परागत रूप से यह देखने में आया है कि ईसाई, मुसलमान, जैन सनातन धर्म हिन्दू, सिक्ख अपने धर्मावलम्बियों के शिक्षार्थ पाठशालाएं चलाते रहे हैं। स्वतन्त्रता प्राप्ति के इन 50 वर्शों में जहां एक ओर धर्म-निरपेक्षता व शिक्षा पर सरकारी नियन्त्रण का विकास हुआ है, वहां दूसरी ओर यह भी देखने में आया है कि धार्मिक समुदायों द्वज्ञरा खोली गई शिक्षा-संस्थाओं की संख्या भी बढ़ी है।

सरकारी शिक्षा-संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा के शिक्षण पर संवैधानिक रोक रही है। निजी शिक्षा संस्थाओं में से अधिकांश को सरकारी सहायता मिलती है, क्योंकि लोक-कल्याणकारी राज्य होने के फलस्वरूप सरकार जन-कल्याण के लिए शिक्षा प्रसार करना भी महत्वपूर्ण मानती है। सरकारी सहायता पाने के फलस्वरूप ऐसी संस्थाओं में भी किसी धर्म विशेश की शिक्षा देने पर प्रतिबन्ध लागू हुआ है। ऐसी संस्थाओं में अब औपचारिक रूप से विद्यार्थियों के प्रवेश तथा शिक्षकों की नियुक्ति के मामलों में धर्म-निरपेक्षता बरतना आवश्यक हो गया है। यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण सामाजिक परिवर्तन है, लेकिन अनौपचारिक रूप से आज भी धार्मिक समुदायों द्वारा चलाई जा रही शिक्षा-संस्थाओं में अपने धर्म के विद्यार्थियों और शिक्षकों को ही प्राथमिकता दी जाती है और संवैधानिक आदेशों का चालाकी से उल्लंघन किया जाता है।

एक धर्म-प्रधान देश होने के फलस्वरूप पुरानी पीढ़ी के लोगों में धार्मिक संस्कारों, प्रतीकों, लोक-साहित्य तथा मूल्यों में आज भी अधिक आस्था पाई जाती है, लेकिन नई पीढ़ी के आधुनिकीकरण का प्रभाव बढ़ रहा है, अतः उनमें धार्मिकता का अंश बहुत कम देखने में आता है। हमारी पाठशालाओं और उच्च शिक्षा-संस्थाओं के शिक्षकों के बारे में प्रायः यह आशा की जाती है कि वे धार्मिकता के प्रभाव में न होकर आधुनिकता तथा निरपेक्षता के प्रभाव में ही होंगे, लेकिन वास्तविकता यह नहीं हैं। आज भी अधिकांश शिक्षक धार्मिकता में विश्वास करते हैं। इसका एक स्वाभावित प्रभाव यह है कि विद्यार्थियों में भी प्रदत्त पदस्थिति, भाग्यवादिता, धार्मिक मतांधता, संकुचितता तथा साम्प्रदायिक विद्वेश सम्बन्धी मूल्य शिक्षकों द्वारा आज भी भरे जा रहे हैं, जबकि आधुनिक भारतीय शिक्षा का औपचारिक लक्ष्य आधुनिक मूल्यों को विकसित करना है, जिनमें प्रमुख हैं अर्जित पदस्थिति, धर्म-निरपेक्षता, सार्वभौमिकता, तर्क, उन्मुक्तता आदि। एडवर्ड शिल्स, मार्गरेट कोरमेक, बी. बी. शाक तथा सत्यपाल रुहेला द्वारा किए गए भारतीय उच्च शिक्षा संस्थाओं के विद्यार्थियों के मूल्यों सम्बन्धी समाजशास्त्रीय अध्ययनों से यह स्पश्ट हो जाता है कि ऊपर से आधुनिक वस्त्र पहिनने वाले, आधुनिक साज-श्रृंगार व दिखावा रखने वाले, तथा बात-बात में आधुनिकता की दुहाई देने वाले, नगरीय उच्च व मध्यम श्रेणी के इन विद्यार्थियों में से अधिकांश विद्यार्थी भी वास्तव धार्मिक अन्धविश्वासों, असामयिक धार्मिक परम्पराओं, भाग्यवादिता व धार्मिक शोशण के विश्वासजनित बन्धनों में बंधे हुए हैं।

14.2.1 हिन्दू धर्म के मूल सिद्धान्त

धर्म की परम्परा भारतीय समाज की अति प्राचीन परम्परा है और पूर्व वैदिक काल से इसकी पवित्रता अविच्छिन्न रूप से बनी हुई है। जीवन के प्रत्येक छोटे बड़े कार्य यहां धर्म के आधार पर व्यवस्थित होते हैं।

हिन्दू धर्म के मूल सिद्धान्तों के आलोक में क्या यह कहा जा सकता है कि हिन्दू धर्म समान्ता और समतावाद में विश्वास रखता है? क्या 'कर्म' और 'पुनर्जन्म' के विचार सभी हिन्दुओं को स्वीकार है? क्या 'मोक्ष' ही सब का अन्तिम लक्ष्य है? क्या 'सहिष्णुता' इसका चरित्र है? क्या अहिंसा इसकी प्रमुख विशेषता है? क्या सभी हिन्दू आत्मा के परमात्मा में विलय हो जाने में विश्वास करते हैं ?

योगेन्द्र सिंह का विचार है कि हिन्दू धर्म के आदर्शात्मक सिद्धान्त, विश्वासों, आदर्शों, अनुमति तर्क, उदारवाद (यानि कि आजाद ख्याल), अस्तित्व, रचना और विनाश, सुखवाद (यानि कि विश्वास ही सुख का प्रमुख लक्ष्य है), उपयोगितावाद तथा आध्यात्मिक की अनुभवगम्यता आदि पर आधारित है। व्यापक अर्थों में हिन्दू धर्म के मूल तत्व इस प्रकार हैं:

(1) धर्मशास्त्रीय विचार

हिन्दू धर्म कतिपय आध्यात्मिक विचारों में विश्वास रखता है, जैसे पुनर्जन्म, आत्मा की अमरता, पाप, पुण्य, कर्म, धर्म और मोक्ष। 'कर्म' का विचार उसे सिखाता है कि वह पूर्व जन्म के कर्मों के कारण किसी एक विशिष्ट सूह (जाति या परिवार) में जन्मा है। 'धर्म' का विचार उसे सिखाता है कि यदि वह इस जन्म में अच्छे कर्म करेगा, तो अगले जन्म में उच्च सामाजिक समूह में जन्म लेगा। 'मोक्ष' का विचार उसे याद दिलाता है कि उसके पाप और पुण्य उसे जन्म मरण के बन्धन से छुटकारा दिलाने में निर्णायक सिद्ध होंगे।

(2) अपवित्रता और पवित्रता

हिन्दू धर्म में अपवित्रता और पवित्रता दोनों विचार भी बड़े महत्व के हैं। यद्यपि अपवित्रता एवं पवित्रता के नियम अलग-अलग क्षेत्रों में भिन्न हैं, लेकिन हर जगह जीवन का एक बड़ा भाग उनके अन्तर्गत आता है। उनका महत्व सहभोजी सम्बन्धों, स्पर्श अथवा शारीरिक दूरी स्थापित रखने, अन्तर्जातीय विवाह, मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन में अनेक अवसरों (जैसे जन्म, विवाह, मासिक धर्म, मृत्यु एवं प्रार्थना आदि) में देखा जा सकता है। अपवित्रता का विचार सफाई से नहीं परन्तु जन्म से सम्बन्धित है। पवित्रता के नियम तोड़ने पर व्यक्ति को शुद्धिकरण सम्बन्धी विधि से गुजरना पड़ता है।

(3) संस्तरण

हिन्दू धर्म में संस्तरण इन अर्थों में विद्यमान है; (अ) वर्ण एवं जाति में; (ब) व्यक्ति के करिश्माई लक्षणों या 'गुणों' में (जिनमें सर्वोपरि है 'सत्य गुण' अर्थात वह तेज या साधुता जो सन्यासियों एवं ब्राह्मणों में होती है; उसके बाद आता है 'रजो गुण' अथवा कर्म और सत्ता के प्रति प्रतिबद्धता जो राजाओं और क्षत्रियों में पायी जाती है; और उसके बाद आता है 'तमो गुण' जो संस्तरण में निम्नतम है और जो दुष्कर्मों के प्रति रूझान एवं आलस्य से संबंधित है); (स) जीवन लक्ष्य के मूल्यों में (जैसे, 'अर्थ' यानि कि धन की प्राप्ति, 'काम' यानि कि यौनवृत्ति और शारीरिक रूप से आनन्द प्राप्त करने वाले भौतिक लक्ष्यों की तलाश, 'धर्म' यानि कि सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में नैतिक कर्तव्य और 'मोक्ष' यानि कि जन्म और पुनर्जन्म से छुटकारा पाने का प्रयास)।

(4) मूर्तिपूजा

हिन्दू धर्म की सबसे विचारणीय सामाय विशेषता है मूर्ति पूजा में विश्वास। मूर्ति में समरूपता नहीं है। यह सम्प्रदाय के अनुसार भिन्न है। प्रत्येक सम्प्रदाय का अपना इष्ट देव होता है (कृष्ण, राम, शिव, गणेश, हनुमान, आदि) जो अलग मन्दिर में रखा जाता है और जिसकी विशेष अवसर पर पूजा की जाती है।

(5) एकेश्वरवादी चरित्र

हिन्दू धर्म की प्रमुख विशेषता यह है कि यह एक ईश्वर में विश्वास करने वाला धर्म नहीं हैं बल्कि लचीले धार्मिक सम्प्रदायों का सान्निध्य है। यही लचीलापन इसकी शक्ति है जिसमें गैर-जातीय और वह वेद-विरोधी समूह जो धर्मशास्त्रों के अनुसार आचरण नहीं करते हैं, उन्हें भी अपना अस्तित्व बनाए रखने की अनुमति है।

(6) सहिष्णुता

हिन्दू धर्म धर्मनिरपेक्ष और सहिष्णु जीवन दर्शन है क्योंकि इसमें विविध प्रकार के पंथों एवं सम्प्रदायों का समावेश है जो भिन्न तो हैं, किन्तु सभी सामान्य हिन्दू देवी देवताओं में विश्वास रखते हैं। साामाजिक समुदायों की पृथकता तथा स्पष्ट रूप से दिखाई देने वाली धार्मिक पहचान ने प्रत्येक समूह का पृथक अस्तित्व में जीने के लिए प्रेरित किया। संघर्ष केवल संरक्षण प्राप्त करने की प्रतिस्पद्र्धा के कारण ही होता था। हिन्दू धर्म की सहिष्णुता इससे स्पष्ट होती है। लेकिन विद्वानों का एक समूह ऐसा भी है जो हिन्दूओं की धार्मिक असहिष्णुता का सन्दर्भ देता है।

(7) पृथकता

हिन्दू धर्म की अन्य विशेषता है यह भी है कि यह सामाजिक सम्बन्धों में और पूजा और धार्मिक विश्वासों में सामाजिक समुदायों (जातियों) की पृथकता का समर्थन करता है। पृथकता की प्रकृति निर्भर करती है वर्ण/जाति की पद स्थिति पर जो कि ब्रह्म पुरूष के शरीर से पैदा हुए हैं (जैसे ब्राह्मण उसके मुख से, क्षत्रिय भुजाओं से, वैश्व जंघाओं से और शूद्र पैरों से)। इसके विपरीत तर्क यह है कि केवल कुछ ही सम्प्रदाय, जिनमें प्रमुख शंकराचार्य हैं, इस प्रकार की पृथकता में विश्वास रखते थे। लेकिन यह तर्क ठीक नहीं हैं क्योंकि सभी हिन्दू विश्वास करते हैं कि किसी विशेष समूह की सदस्यता का निर्धारण जन्म से होता है न कि गुणों से। कुछ भी हो, यह तो कहा जाता है कि हिन्दू धर्म में विविध सम्प्रदायों का अभ्युदय एवं पतन न हुआ होता, यदि किसी विशेष समूह में जन्म लेने मात्र से बौद्धिक स्थिति का निर्धारण हुआ होता।

(8) अहिंसा

एक मत है कि हिन्दू अहिंसावादी है जबकि दूसरा मत है कि धार्मिक हिंसा हिन्दू धर्म में अपरिचित नहीं है। यह कहा जा सकता है कि हिन्दू धर्म में अहिंसा का उदय भक्ति, उपासना और सांस्कृतिक पक्ष के उदय होने के दपरान्त ही हुआ या वैष्णव और शैव भक्ति सम्प्रदायों के उदय के उपरान्त लगभग बारहवीं शताब्दी के बाद हुआ, या फिर उदारवादी भक्त परम्परात्मक सम्प्रदायों एवं विभिन्न संतों/भक्तों के उदय के बाद हुआ जो कि ईसा की 15वीं या 16वीं शताब्दी के पश्चात अस्तित्व में आए, जिन में से उत्तर प्रदेश में कबीर व तुलसी, पंजाब में गुरूनानक, बंगाल में चैतन्य महाप्रभु, राजस्थान में मीराबाई और महाराष्ट्र में संत तुकाराम और रामदास प्रमुख हैं। इन सन्तों ने लोगों तक न केवल अपनी भाषा में धार्मिक विश्वास पहुंचाए, बल्कि रूढ़िवादी परम्पराओं की तीखी आलोचना करते हुए धार्मिक संस्कारों से लदे हुए विश्वासों को सरल मानव मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में पहुंचाया।

14.2.2 धर्म के रूप

धर्म के अनेक रूप हैं, इनमें से कुछ इस प्रकार हैं- वर्ण, धर्म, आश्रम धर्म, कुल धर्म, काल एवं देश धर्म, राजधर्म, स्वधर्म, आपद्धर्म।

भारतीय जीवन का मूल आधार धर्म ही है। धर्म व्यक्ति, परिवार, समाज और सम्पूर्ण राष्ट्र के जीवन को अनेक रूपों में प्रभावित करता रहा है। वर्तमान में अनेक कारकों - औद्योगीकरण, नगरीकरण, पाश्चात्य विचारों के प्रसार, शिक्षा के बढ़ते प्रतिशत और प्रजातांत्रिक, राजनैतिक व्यवस्था तथा राजकीय नीतियों ने समाज को परम्परावाद से आधुनिकीकरण ओर बढ़ने में सहायता पहुंचाई है जिसने हिन्दू धर्म के प्रभाव को क्षीण करने में योगदान दिया है।

14.3 संस्कृति

संस्कृति शब्द संस्कृत से निकला हुआ प्रतीत होता है। संस्कृत का तात्पर्य परिश्कृत है। इस अर्थ में संस्कृति का तात्पर्य एक ऐसे तत्व से है जो व्यक्ति को परिश्कृत करती है। कुछ विचारकों का मत है कि संस्कृत शब्द संस्कार से बना है जिसका तात्पर्य शुद्धि की क्रिया से है। अर्थात् संस्कृति के द्वारा व्यक्ति जो जन्म से जैविकीय प्राणी होता है सामाजिक प्राणी के रूप में परिवर्तित किया जाता है।

संस्कृति समस्त भौतिक एवं अभौतिक तथ्यों की वह समग्रता है, जिसकी व्यक्ति समाज में सामाजिक प्राणी बनता है। संस्कृति केाई दैवी शक्ति न होकर मनुश्य की ही सृश्टि है और इसका निरन्तर अस्तित्व मनुश्यों द्वारा अतीत की विरासत के प्रतीकात्मक संचार पर निर्भर है। वह केवल भिन्न-भिन्न व्यवहारों का समूह मात्र ही नहीं है, अपितु व्यवहारों के पारस्परि सम्बन्धों और संगठन द्वारा बनी हुई नवीन व्यवस्था है। संस्कृति नित-प्रतिदिन परिवर्तित होती रहती है। नए व्यवहार, नए विचार और नए अविश्कारों के आने से इसकी अभिवृद्धि और समृद्धि होती रहती है, इसीलिए संस्कृति कभी भी स्थिर नहीं रहती। संस्कृति में व्यवस्था रहती है, इसी संस्कृति के एक तत्व के बदलने से दूसरे तत्वों में भी परिवर्तन हो जाना स्वभाविक है।

14.3.1 संस्कृति की परिभाषा

संस्कृति की अनेक परिभाशाएं हैं। जो कि निम्नवत् हैं तथा संस्कृति के अन्दर छिपे हुए अनेक तत्वों पर प्रकाश डालती हैः-

टाइलर के अनुसार, ‘‘संस्कृति वह संष्लिष्ट अभियोजना है, जिसमें समाजगत ज्ञान, विश्वास, कला, नैतिकता, विधि (कानून), रस्म-रिवाज तथा लोगों की सभी प्रकार की क्षमताएं तथा आदतें सम्मिलित रहती हैं।’’

लैस्ली व्हाइट के अनुसार, ‘‘संस्कृति कुछ अद्भुत पदार्थों का संगठन है क्रियायें (व्यवहार आदर्श) और वस्तुएं। विचार (विश्वास, ज्ञान), और भावनाएं (मनोवृत्तियां, मूल) जो कि लाक्षणिक संकेतों के प्रयोग पर निर्भर है।

कून के अनुसार, ‘‘संस्कृति उन विधियों का समुच्चय हैं, जिनमें मनुश्य, एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक सीखने के कारण, रहता है, ’’ संस्कृति में जो तत्व सम्मिलित है उनका वर्णन करते हुए कून कहता है कि ‘‘इसके अन्दर जोड़ो और समूहों के रूप में लोगों के सम्बन्ध, मनुश्य के कार्य जिनमें भौतिक पदार्थ भी है और लाक्षणिक संकेतों के क्षेत्र में अपनी शक्ति का व्यय जिसमें भाशा, संगीत, कलाये और मानव शरीर भी सम्मिलित हैं।’’

बिडनी के अनुसार, ‘‘संस्कृति में समाज के अन्दर व्यक्तियों के प्राप्त या बनाए गए व्यवहार और विचार, और साथ में बौद्धिक, कलात्मक और सामाजिक आदर्श और संस्थाएं हैं, जोकि समाज के सदस्य स्वीकार करते हैं और जिसके अनुसार कार्य करने की चेश्टा करते हैं।’’

पार्सन्स के अनुसार, ''पार्सन के विचार में संस्कृति सामाजिक अन्तःक्रिया की उपज है और अगली अन्तःक्रियाओं में होने वाले व्यवहार की पथ-प्रदर्शक हैं।''

मोलिनोवस्की के अनुसार, ''संस्कृति जीवन व्यतीत करने की एक सम्पूर्ण विधि है जोकि व्यक्ति की शारीरिक, मानसिक एवं अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति करती है और उसे प्रकृति के बंधनों से मुक्त करती है।''

फेयर चाइल्ड के अनुसार, ''प्रतीकों द्वारा सामाजिक रूप से प्राप्त और संचारित सभी व्यवहार प्रतिमानों के लिए सामूहिक नाम 'संस्कृति' है।

हॉबल के अनुसार, ''संस्कृति सीखे हुए व्यवहार प्रतिमानों का कुल योग है, जो किसी समाज के सदस्यों की विशेशता है और जोकि प्राणीशास्त्रीय विरासत का परिणाम नहीं हैं।''

रॉल्फ लिंटन के अनुसार, ''एक समाज की संस्कृति अपने सदस्यों के लिए जीवन का ढंग है, विचारों और आदतों का संग्रह, जोकि वे सीखते हैं, सहभागी बनते है और एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होते हैं।

क्लाइड क्लकहाम के अनुसार, ''एक विशेश समाज के सदस्यों द्वारा ग्रहण किए गए एक जीवन का ढंग ही संस्कृति हैं।''

बीरस्टैड के अनुसार, ''संस्कृति उन वस्तुओं का गूढ़ संग्रह है जो समाज के सदस्यों के रूप में हम सोचते हैं, करते और रखते हैं।''

14.3.2 संस्कृति की विशेशताएं

उपरोक्त परिभाषाओं के अध्ययन के पश्चात् संस्कृति की निम्नलिखित विशेशताएं स्पश्ट हैं:-

- संस्कृति सामाजिक अन्तःक्रिया की मानव उपज है।
- संस्कृति सीखी जाती है।
- संस्कृति हस्तान्तरित की जाती है।
- संस्कृति में सामाजिक गुण निहित होते हैं।
- प्रत्येक समाज की अपनी एक विशिश्ट संस्कृति होती है।
- संस्कृति समूह के लिए आदर्श है।
- संस्कृति में अनुकूलता की क्षमता पाई जाती है।
- संस्कृति मानव आवश्यकताओं की पूर्ति करता है।
- संस्कृति मानव व्यक्तित्व के निर्माण में मौलिक होती है।
- संस्कृति में अनुकूलन एवं एकीकरण का गुण पाया जाता है।

14.4 सारांश

प्रस्तुत इकाई में धर्म की अवधारणा का अध्ययन किया। हिन्दू धर्म की मूल मान्यताओं तथा सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त किया जो धर्म को दर्शाने में अहम् भूमिका निभाता है। तत्पश्चात् संस्कृति की अवधारण का अध्ययन किया। संस्कृति की विशेषताओं के विषय में ज्ञान प्राप्त किया।

14.5 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. धर्म की अवधारणा का वर्णन कीजिए। हिन्दू धर्म के मूल सिद्धान्तों की विवेचना कीजिए।
2. धर्म के अर्थ को समझाइए। धर्म के विभिन्न स्वरूपों का वर्णन कीजिए।
3. संस्कृति को परिभाषित कीजिए तथा इसके उद्देश्यों का वर्णन कीजिए।
4. संस्कृति का क्या महत्व है ? इसकी विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

14.6 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. गुप्ता, एम.एल. एवं शर्मा, डी.डी. (2004) समकालीन भारतीय सामाजिक विचारक एवं सामाजिक आन्दोलन, साहित्य भवन पब्लिकेशनः आगरा
2. अहूजा, आर (1999) सामाजिक समस्याएं, रावत पब्लिकेशन्सः जयपुर
3. अहूजा, आर. एवं. अहूजा एम. (2008) समाजशास्त्र: विवेचना एवं परिप्रेक्ष्य, रावत पब्लिकेशन्सः जयपुर
4. चन्द्र, एस.एस. (2002) भारतीय सामाजिक संरचना, कनिष्का पब्लिशर्स: नई दिल्ली
5. चन्द्र, एस.एस. (2002) भारत में सामाजिक समस्याएं: कनिष्का पब्लिशर्स: नई दिल्ली
6. दोषी, एस. एल. एवं जैन, पी.सी. (2005) भारतीय समाज, नेशनल पब्लिसिंग हाउसः जयपुर
7. शर्मा, आर.एन.एवं. शर्मा, आर. के. (2002) सामाजिक विघटन, एटलांटिक पब्लिशर्स एवं डिस्ट्रीब्यूटर्स: नई दिल्ली
8. शर्मा, के. एल. (2011) सामाजिक स्तरीकरण, रावत पब्लिकेशन्सः जयपुर
9. राम, एस. पी. (2010) भारतीय सामाजिक समस्याएं: अर्जुन पब्लिशिंग हाउस: नई दिल्ली
10. सिंह, डी. के., पालीवाल, एस एवं मिश्र, आर. (2010) मानव समाजः संगठन एवम् विघटन के मूल तत्वः न्यू रॉयल बुक कम्पनीः लखनऊ